

हे घाट वाले
ॐ कूही कू ॐ

घाट वाले को जा बजा देखा ।
कहीं बन्दा, कहीं खुदा देखा ॥

हे घाट वाले

तू
ही
तू

मिलने का पता:-

१ . श्री राम लाल चड्ढा

डी-५, विक्रम नगर

कोटला फिरोज़शाह

नई दिल्ली-११०००२

२ . महेश देवी सुपुत्री स्वर्गीय श्री जय किशन दास

२८-२९, डी-ब्लाक, विक्रमनगर

नई दिल्ली-११०००२ (फोन न० ३३१६६४६)

३ . श्री महात्मा गुरु प्रसाद जी

श्री योगेश्वर शिव मन्दिर

गांव करसोली (गुल्तरवाला)

पो० बारुना

द्वारा नालागढ़, जिला सोलन (हिमाचल)

प्रथम संस्करण	सन् १९६१	११०० प्रतियां	(श्री . . . स्वामी श्री की शिष्या पुष्पा देवी जी द्वारा)
दूसरा संस्करण	सन् १९७२	७५० प्रतियां	(श्री स्वामी जी के शिष्य श्री राम लाल चड्ढा द्वारा)
तीसरा	१९७२	११०० प्रतियां	(श्री . . . स्वामी जी के समस्त भक्त जनों द्वारा)
चौथा	१९७६	११०० प्रतियां	
पांचवां	१९७६	११०० प्रतियां	
छठा	१९७६	११०० प्रतियां	(सजिल्द अंग्रेजी संस्करण श्री स्वामी जी के शिष्य सरदार आनन्द सिंह राणा द्वारा)
सातवां	१९८२	२१०० प्रतियां	(श्री . . . स्वामी जी के समस्त भक्त जनों द्वारा)
आठवां	१९८६	२१०० प्रतियां	(श्री स्वामी जी की से विका अं जनी देवी एवं उनके सु पुत्र श्री अजीत सूद द्वारा)
नौवां संस्करण	१९९२	१००० प्रतियां	(सजिल्द श्री स्वामी जी के भक्त जनों द्वारा)

दसवां संस्करण १९९८-१९०० प्रतियां
सजिल्द महाशय धर्मपाल जी एम०डो०एच० के द्वारा
(वानप्रस्थ)



हे घाट वाले! हे टाट वाले! हे गुमनाम तू ही तू

यह राज़ समझता है बस आशिक़े - दीवाना ।

इस बुत में समाया है बुतखाने का बुतखाना ।।



ॐ परमात्मने नमः

दो शब्द

हरिद्वार में गंगा के पावन घाट वाले टाटेश्वर महादेव

जिनके परिचय में आने वाले हजारों लाखों लोग भारत के अलग-अलग प्रान्तों से आते रहे और आत्म शान्ति पाते रहे और जीवन की उलझी गुत्थी को सुलझाते रहे। प्रत्येक स्तर के साधु सन्त मण्डलेश्वर एवं लम्बी-चौड़ी गाड़ी खींचने वाले सद्गृहस्थ भी आते रहे और समदर्शी की शीतलता का लाभ उठाते हुए अपने जीवन को सफल बनाने की ओर अग्रसर होते रहे। वे ऐसे बेजोड़ महात्मा थे कि सदैव नाम रूप और मोह ममता से पार अपने ब्रह्मात्व स्वभाव में परमात्म शान्ति में परितृप्त उस महान आत्मा ने थके हुआओं को, हारे हुआओं को हाथ पकड़ कर उठाया तथा गिरते हुआओं को गिरने से बचाया, उठे हुआओं को चलाया, चले हुआओं को परम शांति के द्वार पर पहुंचाया।

न कोई पन्थ, न कोई सम्प्रदाय अपितु सारे विश्व को जो कि एक आधार परब्रह्म परमात्मा है उनकी अद्वैत ज्ञान की सरिता में सब नहाकर अपने सांसारिक उलझनों व तपन को मिटाकर नया उत्साह, उमंग, शान्ति, साहस व सुहृदयता लोग पाते रहे। यह स्वाभाविक ही है कि उस महान विभूति के लिए उनका नाम, कुल, परिवार के विषय में जानने की इच्छा रहती थी परन्तु कोई भी यह

जानकारी प्राप्त नहीं कर सका। यहाँ तक कि गुप्तचर भी इस कार्य (मिशन) में सफल नहीं हो सके।

दुनिया के आठ आश्चर्य तो सुविदित हैं लेकिन यह इस जमाने का नूतन, नवीन, महान आश्चर्य है कि पचासों (यानि अनेक दशकों) से हजारों उनके भक्त और अन्य लोग भी उनका पूर्ण परिचय जानने को उत्सुक रहे लेकिन उनका यह रहस्य तो रहस्य ही रहा। आखिर में लोगों ने थककर अपनी श्रद्धा (भावना) के अनुसार अनेकों नामों से उनको पुकारा जैसे कि - टाट वाले बाबा, घाट वाले बाबा, भोले बाबा, शहनशाह, शंकर भोलेनाथ यहाँ तक कि किसी ने तो अपनी बुद्धि में कोई संज्ञा न पाकर 'गुमनाम' से ही सम्बोधित कर दिया लेकिन महाराज जी के अन्तिम श्वास तक कोई भी माई का लाल उनके देह की जाति, नाम, ग्राम, कुल परिवार को न जान सका।

क्या विरक्तता है, क्या बेजोड़ त्याग है। जिस नाम और प्रसिद्धि के लिए दुनिया सिर पटकती है, दर-दर की ठोकें खाती है, थोड़ा सा दान देकर तख्तियां लटकवाने के लिए तलबगार रहती है। लेकिन इस महापुरुष ने अपना नाम, जाति, ग्राम नहीं बताया तो नहीं बताया। क्योंकि शरीर मिथ्या, उसका नाम-मिथ्या, उसकी जाति मिथ्या है ही तो उसमें प्रीति क्यों? कब तक? किसलिए? वास्तव में हे इन्सान ! तेरी जाति परमात्मा की जाति है। तेरा कुल परमात्मा का कुल है। तेरा नाम परमात्मा का है। शरीर का नाम, जाति, कुल

तो सब मन की कल्पना है और यह महापुरुष इन सब कल्पनाओं से ब्रह्मलीन होने के आखिरी क्षण तक परे रहे तथा इसे उन्होंने सिद्ध करके दिखा दिया ।

धन्यवादी हैं वे लोग जिनको ऐसे ब्रह्मवेत्ता महापुरुष का सात्रिध्य मिला और वे भी बड़भागी हैं जो एक बार भी उनकी मीठी निगाहों में आ गये । ठीक ही किसी ने कहा है कि -

"निगाहों से निहाल होते हैं जो निगाहों में आ जाते हैं ।"

वह अनादि और अनन्त शक्ति आज भी प्रत्यक्ष है । भक्तजनों को उनके सात्रिध्य और दया की अनुभूति होती रहती है ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

भोलागिरी आश्रम के सामने

निवेदक :

बिरला घाट, हरिद्वार

सन्त चरणानुरागी गण

बुत में बुतखाना

यह राज^१ समझता है बस 'आशिके^२ - दीवाना।'

इस बुत^३ में समाया है बुतखाने का बुतखाना^४ ॥

'तारीखे^५ - ज़माना' का माख़ज^६ तो इसी से है।

कहने को यह लगता है इक लफ़्ज़^७ का अफसाना^८ ॥

हल्की सी भी इस की हो 'गर^९ लगज़िशे^{१०} - रिन्दाना'।

मदहोश^{११} हो इक पल में मयख़ाने का मयख़ाना^{१२} ॥

अन्दर भी वही जल्वा^{१३}, बाहर भी वही जलवा।

इस एक सनम^{१४} से है पुरनूर सनमख़ाना^{१५} ॥

'मुखतारे^{१६} - दो आलम' है, 'सरकारे^{१७} - दो आलम' है।

रहते हुए सब में भी है सब से 'जुदागाना^{१८} ॥

तस्वीर^{१९} - ओ - तस्सुवर^{२०} सब, एजाजे^{२१} - मुस्सवर^{२२} है।

यूं कौन यहाँ अपना, यूं कौन है बेगाना ॥

इस माया पति की यह माया का करिश्मा^{२३} है।

वीराना लगे गुलशन, गुलशन लगे वीराना ॥

चाहे तो ग़ज़ब^{२४} ढादे, चाहे तो करम^{२५} कर दे

जादू भरी नज़रों की इक 'जुबिशे^{२६} - मस्ताना' ॥

जो हश्मत^{२७} - ओ - दौलत^{२८} है, सब इस की बदोलत^{२९} है।

क्या पेश करें इस के हम कदमों में नज़राना^{३०} ॥

दरिया ही नहीं इस में गरकाब समन्दर हैं।

समझो न इसे 'जौहर' इक छोटा - सा पयमाना^{३१} ॥

२८-७-१९६२



महाशय धर्मपाल वानप्रस्थी, त्यागमूर्ति एम.डी.एच. मसाले वालों ने यह पुस्तक छपवाकर स्वामी घाट वाले महाराज जी के चरणों में अर्पित की।

- स्वामी जगदीश जी महाराज



भूमिका

श्री. . . घाटवाले भगवान जी का श्री श्री श्री श्री अर्थात् चार श्री से विभूषित होने का अभिप्राय है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों के दाता और चारों वेदों के शिरोमणि हमारे भगवान जी थे तथा उन के परम पवित्र दिव्य नाम का उल्लेख जहां जहां भी किया गया है श्री श्री श्री श्री अथवा श्री. . . (श्री लिखकर तीन बिन्दु) का प्रयोग कर किया गया है।

श्री श्री श्री श्री भगवान घाट वाले जी ने "सब संभव है, असंभव कुछ नहीं" में चारों वेदों का जो सार ज्ञान, वैराग्य और भक्ति के रूप में सर्व कल्याण के लिये दिया है उस श्रेष्ठतम ग्रंथ रत्न में श्री श्री श्री श्री भगवान जी का नाम 'गुमनाम' तीनों लोकों के सभी नामों का आधार है। सब नाम इसी 'गुमनाम' में से प्रगट होते हैं और इसी में लीन हो जाते हैं।

इस पुस्तिका में श्री श्री श्री श्री घाट वाले भगवान जी के लीला शरीर के जो पावन प्रसंग दिये गये हैं वे या तो उन के श्री मुख से सुने गये या उन के भक्तों की वाणी से अथवा कुछ हमारे प्रत्यक्ष दर्शन एवं अनुभव के आधार पर हैं। यदि उन्हें लेखनीबद्ध करने में कहीं कोई त्रुटि रह गयी हो तो भक्तजन उस पर ध्यान न दे कर

हमारा उन के प्रति अनन्य समर्पण एवं सेवा-भक्ति भाव समझ कर क्षमा करेंगे।

श्री श्री श्री श्री स्वामी जी के आज्ञा से जब 'सब संभव है, असंभव कुछ नहीं' महाग्रंथ का प्रकाशन किया गया तो किसी भी प्रकार की भूमिका या लेखक का नाम देने का आदेश नहीं था। परन्तु जिन भक्त-जनों को उनके लीला शरीर के साक्षात् दर्शन एवं सत्संग का सौभाग्य नहीं मिला उन्हें श्री श्री श्री श्री भगवान जी के अनन्त वैभव की महिमा का बोध कराने हेतु भूमिका के रूप में कुछ पंक्तियां लिखना अभीष्ट समझा गया।

बुत में बुतखाना के कठिन शब्दों के अर्थ

- | | |
|--|--|
| १ - राज - रहस्य | १७ - सरकारे दो आलम - कुल संसार का स्वामी |
| २ - आशिके दीवाना - पागल प्रेमी | १८ - जुदागाना - अलग १९ - तस्वीर - मूर्ति |
| ३ - बुत - मूर्ति | २० - तस्सवुर - ध्यान |
| ४ - बुतखाना - समस्त मूर्त संसार | २१ - एजाज़ - चमत्कार |
| ५ - तारीखे - ज़माना - ब्रह्मांड का इतिहास | २२ - मुस्सवर - चित्रकार |
| ६ - माख़ज़न - उद्गम स्थान | २३ - करिश्मा - चमत्कार |
| ७ - लफ़ज़ - शब्द | २४ - गज़ब - कोप |
| ८ - अफसाना - कहानी | २५ - करम - दया |
| ९ - गर - यदि | २६ - जुंबिशे - मस्ताना - मदभरी क्रिया |
| १० - लगज़िशे - रिन्दाना - शराबी की लड़खड़ाहट | २७ - हश्मत - संमान - पद |
| ११ - मदहोश - नशे में बेसुध | २८ - दौलत - धन |
| १२ - मयखाना - मदिरालय | २९ - बदौलत - कारण |
| १३ - जल्वा - प्रत्यक्ष दर्शन | ३० - नज़ाना - भेंट |
| १४ - सनम - इष्ट देव | ३१ - गरकाब - डूबे हुए |
| १५ - सनमखाना - इष्ट देव का मन्दिर | ३२ - पयमाना - गिलास |
| १६ - मुखतारे - दो आलम - कुल संसार का नियंता | |

हे घाट वाले तू ही तू

प्रथम दर्शन

श्री श्री श्री श्री भगवान घाट वाले जी के प्रथम दर्शन सन् १९५० विक्रमी संवत् २००६ में हमें हुआ। परन्तु तब उन से बात-चीत नहीं होती थी। उन के पास गंगाजी में स्नान करते थे।

सत्संग

सन् १९५१ विक्रमी संवत् २००७ से हमारा नमस्कार और वार्तालाप शुरू हुआ। हमारे भाव तभी से परिवर्तित होने शुरू हुए। सत्संग भी आरम्भ हुआ। हरिद्वार में कहीं भी सत्संग हो, श्री . . . भगवान जी अपनी प्रेरणा से हमें वहां भेजते थे। सन् १९५२ विक्रमी संवत् २००८ से श्री . . . घाट वाले जी से हम सत्संग करने लग गये। उस समय सत्संग में दो, तीन आदमी होते थे। उसके बाद श्री . . . भगवान जी से हमारी बहुत घनिष्टता हो गयी। हमारे मन में वे बैठ गये। हमें विशेष रूप से वैराग्य हो गया। जब हम रात्रि को काम छोड़ कर श्री . . . भगवान जी के परम चरण कमलों में जाते थे तो वे अपने जीवन की कथा सुनाते थे।

गृहस्थ त्याग

श्री . . . भगवान जी बताते थे कि ३६ वर्ष की युवावस्था

में ही उन्होंने गृहस्थ त्याग दिया था। वे कहते थे - "हम भी गृहस्थ आश्रम में रहे थे और हमें भी ठोकर लगी थी।"

प्रेरणास्रोत श्रीमद्भगवद्गीता

श्री . . . स्वामी जी का दिव्य लीला शरीर बिहार प्रांत के किसी बड़े गांव के ज़मींदार परिवार से था। वे वहां के स्टेशन मास्टर जी के साथ श्री गीता जी के ऊपर सत्संग करते थे। श्री . . . स्वामी जी श्रीमद्भगवद्गीता पर बहुत आस्था रखते थे। श्री गीता जी ही उनकी प्रेरणा स्रोत बनीं। उनका स्टेशन मास्टर जैसे व्यक्ति से मेल-जोल होने से हमें भान होता था कि श्री . . . स्वामी जी किसी बड़े परिवार में अवतरित हुए थे।

नाम न धाम

श्री . . . स्वामी जी अपने गांव का नाम, अपना नाम, जाति आदि नहीं बताते थे। वास्तव में अभ्यास करने वाले को यह चीज़ें भूलनी चाहिये।

बनारस में तप साधना

गांव छोड़ने के बाद श्री . . . स्वामी जी पैदल ही यात्रा कर बनारस में आ गये। गृहस्थ त्याग के बाद कुछ दिन बनारस में रहने लगे। वहां बच्चों को ट्यूशन पढ़ा कर निर्वाह करते थे। कुछ

महीने ऐसा करते-करते साथ-साथ अभ्यास भी करते थे। इस बीच वे एक सप्ताह तक निराहार रहे। ट्यूशन से जो पैसे प्राप्त होते थे वे कमजोरों में बांट देते थे। एक सप्ताह तक जब उन्होंने भूख यूं ही बर्दाश्त कर ली तो ट्यूशन पढ़ाना भी छोड़ दिया। पहले एक दिन भूखे रहे, फिर इसी तरह दो दिन, तीन दिन। इस तरह बढ़ाते-बढ़ाते लगातार आठ दिन तक निराहार रहने का अभ्यास किया। ट्यूशन छोड़ने के बाद श्री . . . स्वामी जी भोजन क्षेत्रों से करते थे। किसी से याचना नहीं करते थे।

हरिद्वार में

कुछ दिन बाद श्री . . . स्वामी जी ने बनारस छोड़ दिया। श्री गंगा जी के किनारे-किनारे नंगे पांवों पैदल चल कर हरिद्वार पहुंचने का संकल्प लिया और चल पड़े। मार्ग में आस-पास जहां कोई बस्ती नहीं थी श्री . . . स्वामी जी भूख से व्याकुल हो कर धरती पर लेट गये। फिर विचार से अपने उस आत्मबल को जागृत किया जो जन्म-मरण, भूख-प्यास से रहित है। और उन के शरीर में नई चेतना, नई स्फूर्ति आ गई। श्री . . . स्वामी जी सहसा उठ कर बैठ गये, कुछ समय के बाद उठे और फिर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने लगे। श्री . . . स्वामी जी के जीवन की यह घटना "श्री सब संभव है, असंभव कुछ नहीं" वेद रूपी ग्रंथ में उन के कर कमलों द्वारा अंकित श्लोक संख्या ८२६ में है। श्री . . . स्वामी

जी इस प्रकार कठिनाइयों को सहन करते हुए हरिद्वार पहुंच गये ।
 वहां ऋषिकेश, भीम गोडा वगैरह सब देखे। श्री . . . स्वामी जी
 सनातन धर्म की प्रत्येक क्रिया में आस्था रखते थे। मंदिरों में,
 देव-पूजा में, तीर्थों में, व्रतों में आदि-आदि। परन्तु वे किसी भी मत
 का विरोध नहीं करते थे।

भारत भर की तीर्थ यात्रा

कुछ काल तक हरिद्वार में भजन करने के बाद श्री . . .
 स्वामी जी ने विचार किया कि भारत वर्ष के समस्त तीर्थ पैदल करेंगे।
 सर्दी, गर्मी, वर्षा, भूख-प्यास आदि को सहन करते हुए श्री . . .
 त्रिलोकी के नाथ, भगवान घाट वाले जी ने अयोध्या, मथुरा,
 वृन्दावन, गया, जगन्नाथ पुरी, श्री बैजनाथ धाम, गंगासागर, श्री
 तिरुपति बाला जी, श्री द्वारिकापुरी, कुरुक्षेत्र आदि भारत वर्ष के
 समस्त तीर्थ किये। श्री . . . स्वामी जी ने सत्संग खूब सुना परन्तु
 किसी के आगे आध्यात्मिक उन्नति के लिये याचना नहीं की। न गुरु
 बनाया। वे सच्चाई, पुरुषार्थ और भजन को ही अपनाते थे। तीर्थों
 में सत्संग भी जहां मिलता था, करते थे। नीचे मैदान के तीर्थों की
 यात्रा संपूर्ण कर के यमनोत्तरी, गंगोत्तरी, केदारनाथ, बद्रीनाथ,
 अमरनाथ, वैष्णव देवी आदि हिमालय के सभी तीर्थ साधारण वस्त्र
 से बिना पैसे को छुए अकेले ही किये ।

हिमालय की यात्रा में भोजन बनाने में भजन-अभ्यास के लिये समय व्यर्थ न जाए इसलिये श्री... स्वामी जी प्रायः कच्चे आटे को जल में गूंध, उस का गोला सा बना कर ही खा लेते थे।

श्री... स्वामी जी बतलाते थे कि मार्ग उस समय बहुत जटिल था। हमारे पांव चलते-चलते नीचे से फट गये थे। रक्त की धारा बहती थी परन्तु हम अपने लक्ष्य से रुके नहीं। चरणों के नीचे पुराने कपड़े बांध कर चलते ही रहे। उन्होंने १२ वर्ष की लम्बी अवधि तक विकराल कष्ट सहते हुए सभी तीर्थ पूर्ण किये। वे बतलाते थे कि जब से होश संभाला विकट से विकट परिस्थितियों में भी हम कभी रोये नहीं। जब युवावस्था में ही ऐसी दिव्य लीलाएं करते थे तो बाल-लीलाएं कैसी मन मोहक और अद्भुत होंगी। श्री... भगवान जी वेदान्त छन्दावली तथा गिरिधर की कुंडलियों पर बहुत आस्था रखते थे। स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी राम कृष्ण परमहंस की पुस्तकें भी बाद में रख लीं थीं। तीर्थ यात्रा पूर्ण होने के बाद भी कभी हरिद्वार, कभी ऋषिकेश में समय विताते थे। एक बार एक मंदिर में श्री . . . स्वामी जी भजन में मगन थे कि सहसा मंदिर के घंटे अपने आप बजने लगे। इस के बाद श्री... स्वामी जी जहां विराजमान हैं उसके सामने, पेड़ के नीचे पत्थरों का चबूतरा बना कर वहां भजन करते थे। बैशाख शुक्ला पूर्णिमा संवत् १९६२ सन् १९३७ में जब बिरला घाट बना, कुछ समय के लिये श्री... स्वामी

जी कहीं और विराजमान होकर भजन करते थे।

घाट निर्माण का कार्य संपूर्ण होने पर श्री... स्वामी जी सीढ़ी के नीचे विराजमान हो गये। वे बतलाते थे कि नीचे हम एक बोरी बिछाते थे। ऊपर के लिए एक चादर होती थी। एक टौन का डिब्बा होता था। ऋषिकेश जाते थे तो बोरी को इकट्ठा कर देते थे। वे हरिद्वार से ऋषिकेश पैदल ही जाते थे। रास्ते में रायवाला से आगे श्री सत्यनारायण जी का मंदिर पड़ता है। वहां पर उबले हुए छौंक लगे काले चने प्रति व्यक्ति दो सौ-अढ़ाई सौ ग्राम मिलते थे, वही चने खा कर वे तृप्त हो जाते थे। एक दो दिन ऋषिकेश रहने के बाद फिर अपने स्थान पर हरिद्वार आ विराजते थे। श्री जयदयाल गोयन्दका का सत्संग श्री . . . स्वामी जी पसंद करते थे। और भी सन्तों का सत्संग जब गरमियों में ऋषिकेश में होता था, श्री... स्वामी जी वहां जाकर सुनते थे। श्री... स्वामी जी कहते थे — ‘श्री जयदयाल गोयन्दका और गोस्वामी गणेशदत्त जी के भाषणों से हमें काफी लाभ हुआ।

प्राप्ति वर्ष

श्री... स्वामी जी अपनी प्राप्ति के लिए १५ अगस्त सन् १९४७ (स्वतंत्रता दिवस) जब भारत विभाजन होकर पाकिस्तान बना, उस समय का संकेत देते थे। हमें जब श्री महादेव पूर्ण ब्रह्म

तत्त्ववेत्ता घाट वाले भगवान जी का दर्शन हुआ उस समय वे कहीं भी आते-जाते नहीं थे। इसी सिंहासन में जितनी जगह में लेट जाएं, रहते थे। नीचे कुछ बोरियाँ, एक फटी हुई सफेद सिंह की खाल, बिछी हुई थी। उस के ऊपर श्री . . . स्वामी जी एक और कपड़ा बिछा कर रखते थे। एक साधारण कम्बल जो रूई का होता था तथा एक कोरे लट्ठे की चादर रखते थे।

गूदड़ी के लाल

श्री... स्वामी जी के पास एक गुदड़ी थी। वह उन्होंने अपने हाथ से ही बनाई हुई थी। लोग जो फटे पुराने कपड़े कूड़े में फैक देते थे वे उनको एकत्र कर कपड़े धोने के बाद जो साबुन के छोटे-छोटे टुकड़े लोग छोड़ जाते थे, उन्हें श्री... स्वामी जी उठा लेते थे। उन्हीं टुकड़ों से चादर और अन्य वस्त्र साफ कर लेते थे। श्री... स्वामी जी ने जो 'सब संभव है, असंभव कुछ नहीं' वेद रूपी महाग्रन्थ लिखा है, उसके लेख श्री... स्वामी जी लोगों के द्वारा फैकी गई सिगरेट की खाली डिब्बी उठाकर उसके अन्दर की तरफ लिखते थे। श्री . . . परम पिता परमेश्वर घाट वाले जी के लेख जब हमें मिले तो डिब्बियों पर थे। हमने फिर उन्हें कागज़ पर लिखवाया। श्री . . . स्वामी जी कभी किसी से याचना नहीं करते थे परन्तु इस ढंग से अपनी आवश्यकताएं पूरी कर लेते थे। अभी तक भी याचना करने के विरुद्ध थे।

अल्पाहारी

हरिद्वार में सूरजमल की धर्मशाला के सामने क्षेत्र था। वहां से वे भोजन लेते थे। वे बतलाते थे कि - "वहां प्रत्येक महात्मा को छह सात फुलका मिलता था। मगर साधु लोग झगड़ा करते थे तथा इस से अधिक संख्या में फुलका लेने की कोशिश में रहते थे परन्तु हम मात्र चार फुलके लेते थे। उन फुलकों को भी हम सुखा लेते थे ताकि चबाने में अधिक समय लगे। तीन फुलका हम खाते थे।"

कभी-कभी जंगल से वे बेल फल लाते थे। बेल से हाज़मा खुलता है। शरीर में पित्त भी बढ़ता है। भजन करने वाले के शरीर में पित्त प्रधान होना चाहिए।

श्री...स्वामी जी का अभिप्राय था कि पेट साफ हुए बिना प्राण पवित्र नहीं होते और उदान गति नहीं होती। श्री... स्वामी जी कभी-कभी हंसते थे। उन के मुख में जो दांत दिखाई देते थे वे घिसे हुए होते थे क्योंकि वे भोजन को दांतों से खूब चबाते थे। इस से अल्पाहार में ही शरीर का उचित पोषण होता है और मल का निष्कासन भी सुचारु रूप से होता है। यह बातें हमें श्री... स्वामी जी इसलिए बताते थे कि हम भी उन का अनुकरण करें। वैसे उनका संकेत रहता था कि साधना पथ के पथिक को अन्न अधिक नहीं लेना चाहिये तथा जनता को यह आभास भी नहीं देना चाहिये कि

साधक फलाहारी, मौनी आदि-आदि है ।

उसके बाद वे गुजराती भवन जो भाटिया भवन के निकट है, वहां से भिक्षा लाते थे। श्री... स्वामी जी बतलाते थे कि - 'बिरला घाट पर आने से पहले एक बार हम बहुत बीमार हो गये। हर की पौड़ी से आगे, भीम गोडा से पहले एक स्थान पर हम लेटे रहते थे। हम में चलने-फिरने की शक्ति नहीं थी। आने-जाने वाले हमारे सामने पैसे फैंक जाते थे। हम तो पैसे छूते नहीं थे । शाम को एक माई प्रतिदिन आती थी और वे पैसे उठा कर ले जाती थी। तथा हमें तीन, चार रोटी दे जाती थी। अन्त में ऐसा हुआ हमें अपने जीवन की आशा कम हो गयी अतः वहां से थोड़ी दूरी पर जहां शमशान था, बड़ी मुश्किल से हम वहां चले गये, इस विचार से कि यदि शरीर छूट गया तो वहां जला दिया जायेगा। परन्तु अगले दिन सुबेरे स्वतः ही हमारा स्वास्थ्य अच्छा होना शुरू हो गया। कुछ समय में ही हम ठीक हो गये।"

उसके बाद श्री... स्वामी जी फिर पूर्ववत् सत्संग करने लग गये।

दिनचर्या

श्री... स्वामी जी के जब हमें दर्शन हुए उन दिनों उनकी जीवन चर्या बड़ी नियमित थी। सुबेरे मुंह अन्धेरे भ्रमण करने बिलकेश्वर

के जंगल में चले जाते थे। काफी दिन चढ़ जाने पर वापिस आते थे। जब जंगल से आते थे तो एक डिब्बा रेत का नित्य अपने साथ लाते थे। जिसे ला कर कुटिया के बाहर रख देते थे। जिस का प्रयोग घाट पर आने वाले लोग भी कर लेते थे।

डेढ़-दो घंटा सत्संग करते थे। उस समय सत्संग में दो तीन भक्त ही होते थे। वेदान्त छन्दावली और शुद्ध वेदान्त की पुस्तकें ही सुनते थे। ग्यारह बजे के लगभग भिक्षा लेने स्वयं जाते थे। श्री... स्वामी जी सुवेरे भ्रमण के समय हर की पौड़ी की तरफ जब भी जाते थे, नंगे चरण कमलों से ही जाते थे।

भिक्षा पात्र

श्री. . . स्वामी जी का भिक्षा पात्र सूखी घिया (लौकी) का बना हुआ होता था। जिसे उन्होंने रस्सी बांधी हुई थी। दो नारियल की कटोरियां थीं। एक मिट्टी के कुल्हड़ के गले में भी रस्सी बांधी हुई थी। वह भी भिक्षा के लिये ले जाते थे। एक मिट्टी का पात्र जिस में एक किलो पानी आता था, उस को गंगाजल से भर कर अपने पास रखते थे। एक टीन का डिब्बा भी इन पात्रों में था। टीन के डिब्बे के अतिरिक्त किसी अन्य घातु का पात्र उन के पास नहीं था। उन दिनों वे चश्मा भी पहनते थे। गुजरात भवन से ही भिक्षा लाते थे। भिक्षा में चावल, फुलका, दो सब्जी व एकाध चीज़ मीठी होती थी।

कभी श्री. . . स्वामी जी की मौज आ जाए और भिक्षा लेने नहीं आए तो वह माई बड़े श्रद्धा भक्ति से जैसे भगवान शंकर को मां अन्नपूर्णा भिक्षा भेजती हैं इस प्रकार घाट पर ही भिक्षा भेज देती थी। माई का शरीर छूटने के समय माई अपने परिवार जनों से कह गी थी कि श्री. . . स्वामी जी की भिक्षा रुकनी नहीं चाहिए। भिक्षा अभी तक भी वहीं से आती है। भिक्षा ग्रहण करने के बाद फिर श्री. . . स्वामी जी सत्संग करने लग जाते थे।

अब श्री. . . स्वामी जी दोपहर और सन्ध्या काल में ध्यान में बैठते थे। सुबेरे के समय जब हम स्नान करने जाते थे तो वे ध्यान

में बैठे होते थे । रात्रि को साढ़े दस-ग्यारह बजे के करीब वे तमोगुणका आश्रय लेकर विश्राम करते थे। हम काम छोड़ कर कभी नौ, कभी दस बजे उन के श्री चरण कमलों में चले जाते थे। तब वे अपने जीवन की बातें और विशेष रूप से वैराग्य की बातें करते थे।

वर्षा की बाढ़

हमारे देखते-देखते श्री. . . स्वामी जी के घाट पर दो बार गंगा का प्रवाह ऊपर तक चढ़ आया था। श्री. . . स्वामी जी तब अपना सामान उठाकर ऊपर रख लेते थे। प्रायः दो तीन घंटे में पानी उतर जाता था। एक बार बाढ़ का पानी बहुत ऊपर तक चढ़ आया। हमें किसी न सूचना दी तो हम जिस स्थिति में थे, काम छोड़ कर घाट की ओर भागे। हमें यह भी स्मरण नहीं कि उस मसय हम ने जूता पहना हुआ था कि नहीं । जब घाट पर पहुंचे तो देखा कि कुछ सज्जनों ने श्री. . . स्वामी जी का सामान कोटा हाऊस में रख दिया था। श्री. . . स्वामी जी सामान की गठरी के पास बैठे हुए थे। हम भी उनके चरण कमलों के पास बैठ गये। श्री. . . स्वामी जी बता रहे थे कि "एक बार गंगा किनारे एकान्त में कुछ महात्मा भजन कर रहे थे। उन का वहीं थोड़ी दूरी पर निवास था। अचानक गंगाजी बहुत ज्यादा चढ़ गयीं। महात्माओं के आसन पानी में डूब गये। कुछ महात्मा पेड़ों पर चढ़ गये। कुछ इधर-उधर भाग गये । एक महात्मा वहीं बैठे रहे।"

हमने पूछा - - "स्वामी जी ! क्या वे डूबे नहीं, गंगा जी ने उन्हें बहाया नहीं? श्री स्वामी जी ने उत्तर दिया - - वे अपने योगबल से मछली बन गये थे।

श्री स्वामी जी भी यह सब कुछ करने में समर्थ थे। उन के संकल्प में शरीर था । शरीर ही क्या सारा विश्व ही उनके संकल्प में था। श्री स्वामी जी बहुत ही गम्भीर थे । चमत्कार कभी नहीं दिखाते थे। मछली बनने की बात सुनाने का उनका अभिप्राय इतना ही था कि मनुष्य में इतनी सामर्थ्य होती है कि आग, पानी, हवा आदि उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते । अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी, आकाश पांचों भूत उसकी आज्ञा में हो जाते हैं।

अद्भुत छबि

श्री श्री श्री श्री भगवान घाट वाले जी जब शाम को घूमकर आते थे तो उनकी जो अद्भुत छबि होती थी उसका दाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। मस्त हाथी जैसी चाल, गले में लिपटी चादर पीताम्बर की तरह शोभायमान भासती थी। कमर में टाट सिंह छाला जैसा प्रतीत होता था। विशाल बाहें, मदभरे कटोरों की तरह गोल-गोल लाल नेत्र, द्वितीया के चन्द्रमा की तरह चमकता उन्नत ललाट, उदय होते सूर्य की किरणों की भांति दैदीप्यमान दाढ़ी, घुंघराले काले, कहीं-कहीं बीच में सफेद केश। सुराहीदार गर्दन थी।

गर्दन तक केश लहराते थे। विशाल वक्षस्थल। सागर की तरह गम्भीर गोलाकार उदर था जिस पर तीन रेखाएं होती थीं। चरण कमल बिना चरण दासियों के विद्युत की तरह चमकते थे। जांघें कदली वृक्ष के तने की तरह सुदृढ़ थीं। कटि प्रदेश इतना सुन्दर था कि वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। जिस मार्ग से वे पूर्ण ब्रह्म, तीनों लोक जिनके दाहिने चरण के नख में थे, विचरते थे, वह मार्ग उस समय विलक्षण ही होता था। ऐसे भासता था कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों देव श्री. . . स्वामी जी के ऊपर मानों फूलों की वर्षा करते हुए साथ-साथ चल रहे हों। उस छबि को नेत्र देखते ही रह जाते थे।

जब दीनबन्धु भोले नाथ अपने आसन पर पहुंचते थे तो उन के परम तेजस्वी दिव्य मुख मंडल की शोभा का कौन वर्णन कर सकता है। आसन के पास उन्होंने तीन-तीन इंटें रख कर बिना मसाले की छोटी सी एक सुदृढ़ दीवार बनाई हुई थी। कमर से टाट खोलकर (एक लंगोटी में) उस दीवार पर विराजते थे और टाट को लपेट कर रखते थे। श्री गंगा जी उनके चरण कमलों के बिल्कुल पास से प्रवाहित हो रही थी। ऐसा भासता था जैसे श्री वृषकेतु जी के चरण कमलों से प्रगट हो रही हों। वास्तव में था भी ऐसा ही। इन्हीं चरणों से ही गंगा निकली थीं। यह श्री. . . स्वामी जी के भ्रमण का सांयकाल का दिव्य दृश्य था। सन्ध्या के समय श्री. . . स्वामी जी ध्यान में बैठते थे। परम पिता जी खाते, पीते, सोते, चलते, हंसते

क्रोध आदि सभी क्रियाएं करते हुए भी सदा समाधी में रहते थे। फिर भी समय पर पद्मासन जरूर लगाते थे। और कान में कपड़े की गोलियां सी (जिनको मुद्रा भी कहते हैं) लगाते थे जिससे बाहर का शब्द कुछ रुक जाए। यद्यपि उनको इसकी कोई आवश्यकता नहीं थी। रात्रि में श्री भगवान जी भोजन नहीं पाते थे। मात्र तीन छटांक दूध लेते थे। कभी-कभी जो दूध देने आता था, वह दूध में एकाध जलेबी भी डाल लाता था। हम श्री. . .स्वामी जी के चरण कमलों में ध्यान में बैठे होते थे। वह व्यक्ति श्री. . .स्वामी जी के अन्दर से टीन का डिब्बा उठाकर वह दूध उसमें डाल जाया करता था। कभी-कभी दया के सागर भोग लगा कर वह दूध जलेबी हमें दे देते थे।

सुबह को श्री. . . स्वामी जी जंगल में जहां जाते थे वहां पर बिलकेश्वर कालोनी अब बन गई है। उस समय घना जंगल था। बेल के वृक्ष बहुत थे। श्री. . . भगवान भोले नाथ घाट वोलों को भी यह वृक्ष बहुत प्रिय हैं। आसन पर भी दो चार बेल-फल ले आते थे तो श्री. . . भगवान जी का शरीर उस समय बहुत ही वृद्ध (जैसे पार्वती जी से विवाह करते समय वृद्ध हो गये थे) ऐसे भासता था। हाथों में थोड़ा-थोड़ा कम्पन भी बना लेते थे।

सिंह-सांप में भी अद्वैत दर्शन

जंगल में जहां श्री. . . स्वामी जी विराजते थे वहां पत्थरों का

एक चबूतरा बनाया हुआ था। वे दो-अढ़ाई घंटे वहीं रहते थे। वहां इस जंगल में वनराज सिंह एवम् गजराज भी आजादी से विचरते थे। श्री. . . स्वामी जी के सेवक एक सिन्धी भक्त जिनका नाम कंवरमल था, एक दिन श्री. . . स्वामी जी के पीछे-पीछे यह देखने वहां जंगल में चले गये कि श्री. . . स्वामी जी जंगल में कहां जाते हैं? वहां पहुंचने पर उस दिन भी भक्त ने देखा कि जहां आसन पर श्री. . . स्वामी जी विराजमान हैं, उससे थोड़ी दूरी पर एक सिंह बैठा है। वह भयभीत होकर वहीं से पीछे लौट आया।

श्री. . . महाकाल सर्व व्यापक जब घाट पर पहुंचे तो उस भक्त ने कहा कि "प्रभु जी ! हम आप के दर्शनार्थ जंगल में गये थे परन्तु आप से थोड़ी ही दूरी पर एक सिंह को बैठे देखकर भय के मारे हम आगे नहीं जा सके और वापिस लौट आये।"

यह सुनकर श्री. . . स्वामी जी हंस पड़े और कहा— "हमें कई बार शेर मिल जाते हैं। परन्तु वे कुछ नहीं कहते।" ऐसा कभी-कभी श्री. . . स्वामी जी सत्संग में कहा करते थे कि जिसका द्वैतभाव पूर्णरूप से छूट जाता है उससे सांप, बिच्छू, सिंह आदि सभी हिंसक जीव द्वेष छोड़ देते हैं।

श्री श्री श्री श्री घाट वाले भगवान जी के घाट पर सांप तो

हमने कई बार देखे। फन वाला काला नाग भी देखा। श्री. . . स्वामी जी का आसन धरती पर ही था। ऐसे जीव उनके पास निर्भय होकर घूमते रहते थे।

उन परम दयालु के पास ज्यादातर वही लोग बैठे रहते थे या रात को लेटते थे जिन्हें अन्य लोग अपने पास बिठाना पसन्द नहीं करते थे। उन्हीं की प्रेरणा से उनके ऊपर की सीढ़ियों पर प्रायः ऐसे भयंकर रोगी जिन में कुष्ठ के रोगी भी होते थे, पड़े रहते थे जिन्हें देखकर आम आदमी घृणा से मुंह मोड़ लेते थे।

मधुर प्रिय भाषी

श्री. . . स्वामी जी की बिहारी भाषा बहुत प्रिय और मधुर थी। दूध को कहते थे - - "दूध खाएगा।" उनकी बातों से भान होता था कि वे अच्छे जमींदार घराने में अवतरित हुए थे। जब वे भिक्षा लेने जाते थे उनके हिमालय रूपी शीश पर एक छोटा-सा वस्त्र होता था। हाथों में तूबा और एक मिट्टी का कुज्जा होता था। उनका भोजन भी बड़ा ही मधुर होता था। सब्जी में भी धोड़ा मीठा रहता था। भिक्षा लेकर जब घाट पर पहुंचते थे ऐसे लगता था जैसे भोले भंडारी त्रिलोकी को तृप्त करने वाला भोजन लेकर आये हों।

विशुद्धा नाम के एक माता जी श्री. . . स्वामी जी के पास

बिरला जी के मकान में रहते थे। श्री. . . स्वामी जी से नित प्रति भिक्षा का प्रसाद ले जाते थे। कभी-कभी हमें भी वह परम अमृत भरा प्रसाद प्राप्त हो जाता था। श्री. . . स्वामी जी का प्रसाद पाने से, उनके दर्शन से, प्रवचन सुनने से हमारे मन में तीव्र वैराग्य उत्पन्न होने लग गया।

टांग का दर्द व खांसी स्वतः ठीक

श्री. . . स्वामी जी जब सुबह आते थे तो लंगड़ा कर चलते थे। हमने पूछा तो उन्होंने कहा - - " हमारे घुटने और सारी टांगों में दर्द रहता है।"

हम सुवेरे घंटा दो घंटा श्री. . . स्वामी जी की मालिश करते थे। बारहसिगे के सींग की भस्म, मूंगे की भस्म हमने श्री. . . स्वामी जी को खाने को दी। श्री. . . स्वामी जी ने तीन दिन की सब पुड़ियां एक दिन में खा लीं। हम बड़े आश्चर्य में रहे। यह सब श्री. . . स्वामी जी ने इसलिए किया कि दवा की उनको आवश्यकता नहीं थी। हम यह रहस्य समझ नहीं पाये। अतः एक बहुत अच्छे डाक्टर को लेकर आए। उसने श्री. . . स्वामी जी की टांग की लम्बाई और मोटाई को नापा। वह टांग दूसरी टांग से लम्बाई और मोटाई में एक इंच कम थी। हम ने स्वयं भी यह देखा।

डाक्टर ने कहा— "इन को सुकड़े की बीमारी है। यह ठीक नहीं होगी। जो दवा दूं गा उससे यह तकलीफ और बढ़ेगी। यदि श्री. . . स्वामी जी इस ठंडी जगह को छोड़कर कहीं और चले जायें तो इन के लिए अच्छा रहेगा।"

हमारे जानने वाले एक सज्जन थे। उनसे बात हुई श्री. . . स्वामी जी के कष्ट के बारे में। उन्होंने कहा - - "यदि श्री. . . स्वामी जी मान जायें तो उनके लिए जहां वे कहें, कमरा बनवा दूंगा।"

श्री. . . स्वाजी जी से हमने प्रार्थना की। परन्तु श्री. . . स्वामी जी ने कहा - "हम गंगा छोड़कर कहीं नहीं जायेंगे।"

कुछ समय के बाद उन्होंने दवा खाना भी बन्द कर दिया। कहने लगे— 'हमें दवा से कुछ लाभ तो होता नहीं। फिर दवा क्यों खाएं?

एक वर्ष के बाद बिना दवा खाए ही श्री... स्वामी जी स्वतः ही बिल्कुल ठीक हो गये। टांग का पतला-पन और लंगड़ा कर चलना बिल्कुल ठीक हो गया।

वास्तव में दुख-सुख ही नहीं, तीनों लोक सब श्री... स्वामी जी के संकल्प मे थे। कुछ साल के बाद हमें यह भान हुआ कि श्री...

स्वामी जी विनोद-लीला रूप में अपने आप को कुछ न कुछ दुख लगाए रहते थे। एक बार कई दिनों तक खांसी लगाए रखी। दस पन्द्रह दिन तक हम जोशान्दा बना कर देते रहे। हमें भी बहुत भयंकर खांसी हो गयी। यह सब कुछ हमें ज्ञान-शिक्षा देने के लिये श्री... स्वामी जी ने किया था। जब हम उन्हें जोशान्दा देने गये तो कहने लगे — "अपनी खांसी तो ठीक नहीं कर सकते, हमें भान्ति-भान्ति की दवाएं देते हो।"

श्री... स्वामी जी की लीला-क्रिया बिल्कुल बच्चों की तरह होती थी। तब जो जोशान्दा हम बना कर लाए थे, वह भी पीना बन्द कर दिया। कुछ समय बाद उनकी खांसी भी अपने-आप ठीक हो गई।

हथिनी की प्रेम-भक्ति

श्री... भगवान जी त्रिभुवन घाटवाले जी जिस जंगल में भ्रमण करने जाते थे। वहां पर अब बहुत सुन्दर कालोनी बन गयी है। उसका नाम बिलकेश्वर कालोनी है। एक बड़े आकार की हथिनी अब भी वहां देखी जाती है। श्री... स्वामी जी ने जब अपने परम पवित्र लीला शरीर को त्यागा, तब उस जंगल में जहां श्री स्वामी जी विराजते थे, छोटे-छोटे बांसों के झुंड थे। जब उस हथिनी ने श्री... स्वामी जी को वहां पर नहीं पाया तो आवेश में झुंझलाकर एक झुंड को तोड़

दिया। पूर्ण ब्रह्म निष्ठ से तो सारी प्रकृति प्रेम करती है क्योंकि वह उसकी छाया जो ठहरी।

बिलकेश्वर मंदिर

बिलकेश्वर कालोनी के पास में विलकेश्वर मंदिर है जिसका उल्लेख पुराणों में आता है। वहां पर महादेव श्री घाटवाले भगवान जी ने पूर्व लीलावतार में लीला की थी। वह मणिधर हरिद्वार की पांच पुरियों में से एक है।

श्री... भगवान जी के सम्पर्क से वैराग्य

श्री भगवान जी के सम्पर्क से हमारा चित्त अति वैराग्यमय हो गया। हमें संसार के भोग फीके लगने लगे। रात्रि का भोजन हमने बन्द कर दिया था। मात्र पाव, डेढ़पाव दूध ही पीते थे। चौबीस घंटे लंगोटी बांधनी भी आरम्भ कर दी थी।

१८ फरवरी, सन् १९५६ सोमवार, फाल्गुन मास के प्रविष्टा ३, विक्रमी संवत् २०१३ सुबह ६ बजे हम श्री . . . देवों के देव, मन मोहन, अन्तरयामी जी के परम घाट में पहुंचे, जहां पर सर्व देवों के देव मेरे प्रभु जी की सर्व स्तुति, वन्दना, अर्चना करते रहते हैं, वह घाट जहां पर आने से आने वाले के सब आवरण दूर हो जाते हैं। हम जब वहां पहुंचे तो श्री . . . स्वामी जी वहां

आसन पर विराजमान थे। हमारे शरीर में वैराग्य से आग सी उत्पन्न होने लगी। लंगोटी तो हम बांधते ही थे। एक टीन का डिब्बा लेकर हम चलने लगे। श्री . . . ज्योतिस्वरूप भगवान जी ने हमारी तरफ देखा और कविता की यह पंक्तियां बोलीं —

तमाम दुनिया है खेल मेरा,

मैं खेल सब को खिला रहा हूँ।

और यह पंक्तियां बोल कर अपने आसन से उठ गये।

हमें ऐसा भान हुआ जैसे यह सब श्री... स्वामी जी की प्रेरणा से हुआ है। वास्तव में यह सब उन की अपार कृपा से हुआ था। हम विकारों की गठरी थे। गंगा स्नान करना, पांव में खूंटी वाली खड़ांव पहनना, मस्तक पर चन्दन का तिलक लगाना, रेशमी कोसे की धोती बांधना, यह हमारा आचार व वेष-भूषा थी। परन्तु विकार तो तक़रीबन सभी मन में थे, श्री वाल्मीकि जी की तरह। परन्तु श्री वाल्मीकि जी को संसार चोर कहता था। हम कहलाते थे भक्ता। परन्तु गुप्त रूप से काम चोरों वाले करते थे। फिर भी क्षमा के सागर, देवों के देव श्री श्री श्री श्री भगवान जी ने अपनी शरण में ले लिया। हम दिनांक १८ फरवरी सन् १९५७ दिन सोमवार को ये चीजें लेकर किशित्यों के पुल से पार हो गये। गौरी कुंड के पास श्री शंकर जी का मन्दिर था। वहां से आगे चंडी मन्दिर के पीछे हम किसी गुफा

में जाना चाहते थे। मंदिर के पास महात्मा भोजन बना रहे थे। हमने उनसे गुफा में जाने का मार्ग पूछा। उन्होंने बड़े प्रेम से हमें अपने पास बिठा लिया। कहने लगे - - 'भोजन पा कर हम आप के साथ चलकर आप को गुफा दिखा देंगे। आप भी भोजन पालें।'

हम रात्रि के भी भूखे थे। भोजन का समय भी था। हमने उनके पास बैठ कर भोजन किया। थोड़ी देर बैठे। इतने में पीछे से दो भाई जो हमारे पूर्व के मित्र थे, जिनके साथ कुछ और भी सज्जन थे श्री... स्वामी जी की प्रेरणा से हमें खोजते-खोजते वहां पहुंच गये। उन्होंने अनेक जगहों पर हमें ढूंढा परन्तु कुछ पता न चलने पर वे श्री... स्वामी जी के चरण कमलों में गये। श्री... स्वामी जी ने उन से कहा — "तुम उसे शहर की तरफ खोज रहे हो। वैराग्यवान शहर में नहीं जाएगा। जाओ ! उसे गंगा के पार जा कर देखो।"

श्री... स्वामी जी कठपुतली की तरह हमें नचा रहे थे।

वे लोग हाथ जोड़ कर हमारे सन्मुख खड़े हो गये। कहने लगे — 'एक बार हमारे साथ चलिए। फिर जैसे आप की इच्छा हो कीजिए।'

वे कई आदमी थे। इसलिये हमने विचार किया कि ये लोग हमें छोड़ेंगे नहीं अतः हम वापिस चले जाते हैं। वहां जाकर भी करेंगे अपने मन की ही।

हमने उनसे कहा - - "हम वापिस इस शर्त पर चलते हैं कि आज से स्त्री (पत्नी) हमारी माता हो गई।

एक कार के द्वारा हमें माया देवी मंदिर के पीछे एक वर्क शाप में ले जाया गया। वे हमसे दुकान पर चलने के लिए आग्रह करने लगे। परन्तु हम नहीं माने तो वे लोग श्री...भगवान घाट वालों को साथ ले आए। दीनों के नाथ ने जब से घर त्यागा किसी के घर की दहलीज़ के अन्दर प्रवेश नहीं करते थे। परन्तु उस दिन दहलीज़ लांघ हमारे पास अन्दर आए। हम लेटे हुए थे, कांपते हुए उठकर बैठ गये।

श्री...स्वामी जी ने फिर कहा - - "दुकान पर जाओ वहां भी भजन करते रहना"। जिनकी प्रेरणा से विश्व चल रहा है उनकी आज्ञा हम कैसे न मानते? हम दुकान पर आ गये। कुछ दिन काम किया। उसके बाद एक अलग कमरे में बैठकर काम करते रहे। हम बारह वर्ष की आयु तक के बच्चों के कपड़े सीते थे। सुबह श्री गंगा जी में स्नान करते थे। श्री . . . स्वामी जी के चरण कमलों में ध्यान में बैठते थे। दोपहर तक काम करते थे। दोपहर को फिर श्री . . . स्वामी जी के साथ ध्यान में बैठते थे। संध्या के समय फिर श्री . . . स्वामी जी के चरण कमलों में हाज़िर हो जाते थे। राम जी नाम का एक लड़का हमारे पास काम सीखता था। हम जिधर भी जाएं, वह हमारे साथ-साथ जाता था। ऐसा वह हमारे घर वालों

की प्रेरणा से करता था कि कहीं हम भाग न जाएं।

मंगलवार १२ मार्च सन् १९५७ के दिन हमने अपने घर से भोजन खाना बन्द कर दिया। भैरव अखाड़े के महन्त जी ने कहा - - "भोजन हमारे यहां किया करें।

हमने स्वीकार कर लिया। एक ही दिन हमने वहां पर भोजन पाया। हमने अनुभव किया कि उनकी बातें और भोजन हमारे भजन में बाधा करता था। वे चाहते थे कि हम उनके अखाड़े के वातावरण में चले जाएं। १४ मार्च सन् १९५७ वीरवार को हमने भोजन अपने आप बनाया।

श्री... स्वामी जी ने हमें दोबारा दुकान पर जाने की आज्ञा इसलिए दी थी कि यदि हम उस स्थिति में दुकान छोड़ कर चले जाते तो दुकान का सारा धन्धा बिगड़ जाता। कुछ काम करने छोटे भाई को आते भी नहीं थे। हमारे दोबारा उतने दिन दुकान पर रहने से दोनों काम ठीक हो गये। हमारे परिचित लोग यह विचारते थे कि यह श्री... स्वामी जी के पास जाता है। इसी से इसको वैराग्य उत्पन्न हो रहा है अतः श्री... स्वामी जी को ही यहां से हटा देना चाहिए।

२८ मार्च सन् १९५७ शनिवार को एक सज्जन मन में यह धारणा लेकर गये कि श्री... स्वामी जी का सामान गंगा में फेंक देंगे। परन्तु श्री...स्वाजी के सन्मुख होते ही उनके भाव बदल गये

और नमस्कार करके उनके चरण कमलों में बैठ गये। सोमवार २० मार्च सन् १९५७ को श्री... स्वामी जी ने हमें अपनी थोड़ी कृपा दिखलाई। मंगलवार, २१ मार्च सन् १९५७ को हमने श्री... स्वामी जी से अपना चित्र देने के लिए प्रार्थना की। पहले तो उन्होंने मना कर दिया। फिर मान गये। आज से श्री श्री श्री श्री परमपिता सर्व विद्याओं के रचने वाले भगवान जी ने स्वयं हमें पढ़ाना शुरू किया। इससे पहले भी स्लेट पर लिखकर हमें दिया था। थोड़ा-थोड़ा अक्षरों की मात्राओं के साथ हम पढ़ने-लिखने लग गये थे। ज्यादा पढ़ने के लिए दया के सागर श्री... स्वामी जी मना करते थे। भजन-अभ्यास के लिए भी जोर डालते थे।

हमारी जीवन कथा के कुछ प्रसंग इसलिए यहां दिये जा रहे हैं कि पाठकों को यह विदित हो जाये कि गिरे हुएों को उठाने में श्री... बलके धाम, गरीबनवाज़ सदा अग्रसर रहते थे। जैसे उन्होंने हमें दल-दल से निकाला इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी कृपा का कितना बल था। उनके अनन्त बल की महिमा का वर्णन करने में मनुष्य तो क्या श्री ब्रह्मा, शेष और शारदा भी असमर्थ हैं।

हमारा श्री . . . स्वामी जी के पास ज्यादा बैठना लोगों के लिए संशय बन गया। वे मानने लगे कि इन्हीं की प्रेरणा से, इन्हीं के आश्रय से तो इसका घर छूटा है। ऐसा अपने मन में विचार कर वे श्री... स्वामी जी को वहां से उठाने के लिए अनेक प्रकार से

तंग करने लग गये। परन्तु निश्चल आत्मा को, पूर्ण ब्रह्म को, ध्रुव को अपने स्थान से सिवाय भक्त के दूसरा कौन हिला सकता है। कुछ समय बीतने के बाद श्री... स्वामी जी ने अपनी पूर्ण प्रेरणा से अपने श्री कमल रूपी चरणों से हमें दूर कर दिया। हम श्याम पुर जो हरिद्वार से १० मील दूर है, वहां रहने लगे। कारण यह है कि हम सर्वत्र यह शोर डालते थे कि श्री... स्वामी जी सम्पूर्ण हैं। ऐसा ही करने पर बुल्लेशाह को उनके गुरु ने जब अपने से दूर किया तो बुल्ले ने कहा - "मुझे अपने से दूर क्यों हटाते हो?"

तो गुरु जी ने उत्तर दिया - "तुम शोरोगुल मचाते हो।"

हम श्यामपुर से नित्य प्रति प्रातः चार बजे के लगभग पैदल चलते थे। सूर्य उदय होते ही श्री परमघाट, सर्व घाटों में उत्तम घाट पर हरिद्वार पहुंच जाते थे। श्री... स्वामी जी जबतक जंगल में घूमकर आते थे तबतक हम पूर्ण घाट की सफाई कर लेते थे। श्री... स्वामीजी के चरण कमलों में नमस्कार करके साढ़े दस - ग्यारह बजे श्यामपुर अपने आसन पर वापिस पहुंच जाते थे।

कुछ दिन ऐसा क्रम चलने पर श्री... स्वामी जी नाराज़ हुये। और कहने लगे - "क्या सड़क नापने के लिए साधु हुआ है? एक महीने से पहले यहां नहीं आना।"

इस प्रकार उन्होंने हमें प्रति दिन अपने पास आने से मना कर दिया। घट-घट की जानने वाले श्री... स्वामी जी पर उस दिन हमें और दृढ़ निश्चय हुआ कि ये तीनों लोकों में व्यापे हुए हैं। वास्तव में उस दिन हम श्यामपुर से आते हुए कदमों से फरलांग को नाप रहे थे।

फिर तो हम महीने में एक ही बार पूर्णमाशी पर ही चन्द्रमा को प्रकाश देने वालों के चरण कमलों में दर्शन करने जाया करते थे। कभी रात को वहां रुकते थे, कभी उसी दिन वापिस आ जाते थे।

श्री... स्वामी जी के पास अब थोड़ी-थोड़ी भीड़ होने लगी थी। हम उन की कृपा से अब श्यामपुर का स्थान छोड़ कर वहां से पांच किलो मीटर की दूरी पर मनसूरी की तरफ, जहां मिलिट्री डेरी फार्म था, रौस नदी के किनारे रहने लगे। वहां से पैदल ही श्री... भगवान जी के चरण कमलों में जाते थे। वापिस आते समय रेल गाड़ी में आते थे।

राम जी की टांग में तकलीफ थी। उन्होंने हमें बहुत बाध्य किया कि हमारी टांग दिखाने दिल्ली चलो। तभी से हम अपने पास पैसा रखने लग गये। कई बार दिल्ली जाना-आना पड़ा जिससे श्री...

स्वामी जी के चरण कमलों में जाना-आना रुक गया।

हमारे कुछ अशुभ कर्म जागृत हुए। हम अति ग़रीब घर के थे, अति भिक्षुक घर के थे। मन में बहुत लालसाएं थीं। सर्व शक्ति मान पूर्ण भगवान जी ने अपने से दूर रख कर वे लालसाएं पूर्ण करवाईं। किसी कारणवश हमें अपने कमल रूपी चरणों से, अनमोल परम घाट, हरिद्वार के स्थूल दर्शन से वंचित कर दिया २४ वर्ष ४ महीने की लम्बी अवधि के लिये। इस बीच हम दिल्ली में ही रहने लगे।

दिल्ली पहुंचने पर हमें कुछ सत्संगी मिले जिनको हम से लगाव हो गया। हम से प्रेम करने लगे। हमने उनको यह कहा कि आप लोगों को जो हम में ज्ञान की, शान्ति की भ्रांति होती है उसके मालिक हरिद्वार परमघाट पर विराजमान हैं जिनके चरणों से गंगा निकल रही है और मस्तक जटाओं में से शान्ति बह रही है, नेत्रों से रहमत बरस रही है। बच्चों में से अमृत छलक रहा है, आप उन्हीं की शरण में जाइये। श्री श्री श्री श्री अमृत अमर करने वाला चश्मा वहीं पर है।

वहां पर दिल्ली के लोग जाने लग गये। सूर्य के उदय होने पर प्रकाश स्वतः हो जाता है इसलिये और प्रान्तों के लोग भी श्री...स्वामी जी के स्वयं को छिपाए रखने पर भी उनके श्री चरण कमलों में जाने लग गये।

कुछ और पावन प्रसंग

क्षमा के अथाह सागर

एक बार एक महात्मा ने श्री... स्वामी जी को अनेक बार भयंकर दुर्वचन बोले। परन्तु श्री... स्वामी जी मौन रहे। वहां पर उस समय अहमदाबाद (गुजरात) के रहने वाले सन्त आसा राम जी जो प्रायः श्री... स्वामी जी के चरण कमलों में आते रहते थे, भी उपस्थित थे। उन्होंने उस दुर्वचन कहने वाले महात्मा के वहां से जाने के बाद कहा - - "स्वामी जी ! आप ने उस को कुछ भी नहीं कहा। यदि आप कुछ बोलते तो हम उस को सीधा कर देते।"

श्री... स्वामी जी ने कहा - - "सोचा तो हमने भी परन्तु फिर हमने विचारा कि इसको कुछ कहने की बजाए अपने को ही कह लें।"

श्री... स्वामी जी क्षमा के ऐसे अथाह सागर थे।

१२ वर्ष के मौन के बाद प्रथम बात

साधना सदन, शंकराचार्य चौक, कनखल (हरिद्वार) के संस्थापक महामंडलेश्वर त्यागमूर्ति श्री स्वामी गणेशानन्द जी पुरी ने एक बार बारह वर्ष के लिए मौन व्रत ग्रहण किया था। जब उन्होंने

अपना मौन व्रत खोला तो अपने संकल्प के अनुसार श्री . . .
स्वामी जी के चरण कमलों में ही आकर पहली बात की।

रिक्शा की सवारी

श्री... स्वामी जी ने अपने शरीर की वृद्ध रचना कर ली थी।
तो तत्कालीन दक्षिण भारत कांचीकामकोटि पीठाधीश्वर जगत गुरु
शंकराचार्य श्री चन्द्रशेखर सरस्वती जी ने उन्हें विशेषरूप से
निर्मित परदे लगा हुआ रिक्शा सवारी के लिए भेंट किया था। यह
रिक्शा पालकी नुमा बना हुआ था। श्री शंकराचार्य जी ने श्री...स्वामी
जी से आग्रह पूर्वक प्रार्थना की थी कि वे पैदल न जाकर इस रिक्शा
में विराजमान होकर शाम को बाहर घूमने जाया करें।

जब श्री स्वामी जी उस रिक्सा में विराजमान होकर जाया
करते थे तो ऐसा लगता था कि जैसे भगवान भोले नाथ जा रहे हों।
मन सुख और भगत जी नाम के दो लड़कों को उस रिक्शा के चलाने
का सौभाग्य प्राप्त था।

प्रसिद्ध संत महात्माओं का श्री स्वामी जी के दर्शनार्थ आगमन

गीता प्रेस, गोरखपुर वाले स्वामी रामसुख दास जी महाराज,

रामचरित मानस के विश्वप्रसिद्ध कथाकार श्री मुरारी बापू जी और 'रामशरण' वाले महात्मा जी और ऐसे ही अनेक उच्च कोटि के महान विभूति सन्त गण श्री... स्वामी जी के दर्शन और सत्संग के लिए समय-समय पर पधारते थे।

बिहार प्रांत निवासी ब्रह्मचारी विजिया नन्द जी, हरिद्वार निवासी अनेक उपाधीधारी श्री शेषानन्द जी जैसे महान विद्वान श्री... स्वामी जी के चरण कमलों में अटूट श्रद्धा रखते थे।

श्री कन्हैया जी और श्री गुरु प्रसाद जी भी श्री... स्वामी जी की प्रेरणा से ही अपना गृह त्याग कर उन्हीं के हो गये हैं।

बिना पैसे छुए भी नित्य सैकड़ों का खर्च

यद्यपि श्री... स्वामी जी पैसे को स्पर्श नहीं करते थे। परन्तु उनके द्वारा भिक्षुओं को भोजन, बोरियां तथा धार्मिक पुस्तकें बटवाने में प्रतिदिन पचासों-सैकड़ों रुपये खर्च हो जाते थे। ऋषिकेश तक के महात्मा यह सब लेने वहां आते थे। उनकी प्रेरणा से वहां और भी परमार्थ के कई कार्य होते रहते थे।

"श्री सब संभव है, असंभव कुछ नहीं" का अंग्रेजी संस्करण

लक्ष्मण झूला के पास मुनि की रेती वाले श्री स्वामी चिदानंद जी सरस्वती जो अब दिव्य जीवन संघ, शिवानन्द आश्रम, ऋषिकेश के संस्थापक श्री स्वामी शिवानन्द जी सरस्वती की गद्दी पर विराजमान हैं, उन्होंने श्री... स्वामी जी से "श्री सब संभव है, असंभव कुछ नहीं" के अंग्रेजी संस्करण के पुनर्मुद्रण की अनुमति मांगी। जो श्री स्वामी जी ने उन्हें भी देदी। श्री स्वामी जी इतने उदार थे कि उन्होंने इस ग्रन्थ रत्न के मुद्रण के सर्वाधिकार स्वरक्षण की मर्यादा को तोड़ सबको इसे सर्व कल्याण हित छपवाने की छूट दे दी।

श्री चिदानन्द जी महाराज ने "Impossibilities Challenged" (Nothing is Possible, Every Thing is Possible) नाम से इस महान ग्रंथ के अंग्रेजी संस्करण को सन् १९७६, १९८४, १९८८ में पुनर्मुद्रित कराया जिसे दुनिया भर में हजारों लोगों ने श्रद्धा भक्ति से पढ़कर अपने जीवन को धन्य बनाया ।

यह उल्लेखनीय है कि इस ग्रंथ रत्न का अंग्रेजी संस्करण

इससे पूर्व सन् १९७६ में ही श्री... स्वामी जी की प्रेरणा से बढ़िया ढंग से सुन्दर सजिल्द प्रकाशित कर भक्त जनों में वितरित किया गया था।

चरण कमल में पद्म का चिन्ह

जब श्री... स्वामी जी लेटते थे तो उनके दिव्य चरण कमल पर पद्म का चिह्न अंकित नज़र आता था। उनके कर पर गुरु का क्षेत्र असामान्य रूप से उन्नत था जो उनके पूर्ण पुरुष होने के प्रतीक थे।

शरीर रूपी लीला का त्याग

तीनों लोकों के आधार ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रचयिता, आवागमन से रहित अहंकार को मिटाने के लिए जो अपने देह को प्रकट करते हैं, ऐसे विदेह जी ने अपने भक्तों को रिझाने वाली जो अपनी शरीर रूपी लीला थी, वह सम्पूर्ण कर दी। बिना देह के सब प्रकार से अब अपने भक्तों की रक्षा करते हैं। उन्होंने जैसे हाथी के गले से फूलों की माला गिर जाये ऐसे (श्री धर्म, श्री अर्थ, श्री काम, श्री मोक्ष से विभूषित) शरीर की लीला त्याग दी।

शरीर रूपी लीला के त्याग के समय मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष दशमी तिथि बुधवार, संवत् २०४५ तदानुसार दिनांक २२ नवम्बर सन्

१६८६ प्रातः पौने पांच बजे थे।

हमें जोगेश्वर शिव मन्दिर, गुल्लरवाली (हिमाचल प्रदेश) में शाम के छः बजे यह सूचना मिली। हमें लेने के लिये महेश देवी आर्या थीं।

रात्रि के दो बजे हमने वहां जाकर श्री घाट पर देवों के देव परम पिता जी कभी अस्त न हों, ऐसे परम ब्रह्म रूपी श्री श्री श्री स्वामी जी के चरण कमलों में दंडवत प्रणाम निवेदन किया। गुरु प्रसाद एवं महेश देवी ने भी दंडवत प्रणाम निवेदन किया ।

शोभा यात्रा

प्रातः तकरीबन दस बजे श्री... ब्रह्मवेत्ता, पूर्ण पुरुष, परमात्मा जी के लीला -शरीर की शोभा यात्रा बिरला घाट से शुरू हुई।

जहां जंगल में श्री... स्वामी जी सुबह-शाम भ्रमण करने जाते थे, उस जंगल में उनके एक भक्त दीवान जी ने कुटिया बना दी थी जोकि दीवान जी के नाम पर ही थी। उसी कुटिया के आंगन में पांच मिनट के लिए विश्राम दिया गया और वेदान्त छंदावली में से श्लोक पढ़ा गया :-

फिर वहां से कीर्तन सत्संग के साथ यह उद्भुत शोभा यात्रा

हर की पौड़ी की ओर बढ़ी। भक्त जनों, सन्त महात्माओं का विशाल समूह शोभा यात्रा में उमड़ा पड़ रहा था। कीर्तन एवं भक्ति संगीत के भावपूर्ण वातावरण में शोभा यात्रा बढ़ती ही जा रही थी। भक्त जनों में कोई व्याकुल था तो कोई एक दम चुप था। सब तरफ से उन्हीं की महिमा का बखान और कर्तव्य की चर्चा हो रही थी। यूँ उनकी अपार महिमा और अलौकिक कर्म का वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता।

हर की पौड़ी पर श्री गंगा जी को श्री श्री श्री श्री भगवान भोले नाथ के चरण कमलों का दर्शन करा कर नीचे वाली सड़क से उनकी जय-जय कार के उद्घोष करते हुए, वन्दना-स्तुति गाते हुए भक्त जन ही नहीं समस्त देव गण, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि-मुनि, चिरंजीव, पाताल निवासी भी पुष्पों की वर्षा करते हुए विशेषकर श्री... भगवान जी के परम भक्त बिरला घाट पर पहुंचे।

जिस प्रकार भगवान त्रिपुरारी तीनों लोकों की प्रदक्षिणा करके अपने आसन पर समाधि में बैठ जाएं, उसी प्रकार कालों के भी महाकाल अपने भक्तों की विशेषरूप से रक्षा करते हुए शाम के पांच बजे अनन्त काल के लिए समाधि में विलीन होकर विराजमान हो गये ।

गत् २४ वर्ष से हम श्री... महाराज के सानिध्य में नहीं

गये थे। इस अवधि में भक्त जनों के मुख से जो श्री... स्वामी जी की लीला सुनते थे उससे पता चलता था कि उन्होंने पहले वाली क्रिया दिखा कर भोगियों की तरह रहना आरम्भ कर दिया था। मोटे-मोटे वस्त्र धारण करना, खाने-पीने में भी परिवर्तन कर दिया था आदि-आदि।

उन दिनों श्री... स्वामी जी के पास भीड़ बहुत बढ़ गयी थी। तीनों लोक जिनके संकल्प में हों, उनके लिए शरीर परिवर्तन करना क्या मुश्किल है। स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने गले में कैसर उत्पन्न कर लिया था। स्वामी रामतीर्थ जल में अलोप हो गये थे। श्री... स्वामी जी ने अपने शरीर में भयंकर रोग लगा कर आपरेशन आदि कराया। जो उनके परम भक्त थे वे यह सब लीला जानते थे कि श्री... स्वामी जी के प्रेरणा से ही यह सब कुछ हो रहा है।

श्री... स्वामी जी ने जब हस्पताल की लीला की तब भी पूछते थे कि सत्संग चलता है। सत्संग चलता रहे।

जो परम पिता धनवन्तरि वैद्य की रचना करने वाले हैं। काल जिनके बीच में चक्कर काट रहा है, मौत जिनके डर से मारी-मारी घूम रही है। ऐसे रोग उन्होंने क्यों लगाये यह वह स्वयं जानते हैं या उनके भक्त जानते हैं।

घाट का सौन्दर्य विस्तार तथा बिजली

श्री ... स्वामी जी जबतक अपने लीला-शरीर में विराजमान रहे तो वह घाट सादा और सीमित रखा हुआ था। उनकी शरीर की लीला सम्पूर्ण होने पर वहां कुछ लड़कों ने जो उन्हीं के आश्रम में रहकर वहां मालिश तथा व्यायाम करते थे, उन्हीं की कृपा से घाट को खूब सुन्दर और विस्तृत कर दिया। श्री...स्वामी जी विद्युत का प्रयोग नहीं करते थे और सुदीर्घ काल तक बिना बिजली के ही रहे परन्तु भक्त जनों ने आग्रह करके बिजली भी लगवा दी है।

श्री स्वामी जी के प्रिय भजन

ठोकर खा-खा ठाकर डिट्ठा^१, ठाकर ठीकर माँहि॥

ठीकर भजदा, टुटदा, सड़दा, ठाकर इक्के थाँहि॥

ठौर-ठौर बिच ठहरया ठाकर, ठाकर बाहर नाँहि॥

ठग, ठीक ,ठाकर ही ठाकर, ठाकर जहां तहाँहि॥

ठाकर राम नचावे नाचे, बह जाँदा जहां तहाँहि॥

१ . देखा

गजल

‘अर्जो-समा’^१ कहां तिरी ‘वुसअत’^२ को पा सके।

मेरा ही है वह दिल कि जहां तू समा सके।

‘वहदत’^३ में तेरे हर्फ दुई^४ का न आ सके।

‘आइना’^५ क्या ‘मजाल’^६ तुझे मुंह दिखा सके।

‘कासिद’^७ नहीं यह काम तिरा, अपनी राह ले।

उसका ‘पयाम’^८ दिल के सिवा कौन ला सके।

‘गाफिल’ ! खुदा की याद को मत भूल ‘ज़ीनहार’^{१०}

अपने ‘तई’^{११} भुला दे अगर तू भुला सके।

१ . पृथ्वी-आकाश, २. विस्तार, ३ . अद्वैत, ४ . द्वैत
का वर्ण, ५. दर्पण, ६. शक्ति, ताक़त, ७. सन्देश लाने वाला,
८. सन्देश, ९. अज्ञानी, बेखबर, १०. कदापि, ११. स्वयं को।

हे घाट वाले तू ही तू

मेरे प्रभु जी के खेल निराले

देख-देख सब हैं मतवाले।

कोई कहे उन्हें घाट वाले बाबा

कोई कहे उन्हें टाट वाले बाबा।

कोई कहे दाता गुमनाम वाले।

मेरे प्रभु जी के खेल निराले॥

कोई तो दिन रात दर्शन करते,

दर्शन कर भव सागर तरते,

कोई कहे हमें पास बुला ले।

मेरे प्रभु जी के खेल निराले॥

कोई 'चरण' धो-धोकर पीते

कोई ध्यान लगाकर जीते॥

वे तो हैं भक्तों के रखवाले।

मेरे प्रभु जी के खेल निराले॥

जो भी उनकी शरण में जाये

इक बार जाके बार-बार जाये

वे तो परम आनन्द के पाले।

मेरे प्रभु जी के खेल निराले॥

लेखक :—गुमनाम

असम्भव कुछ नहीं
सब सम्भव है

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



असम्भव कुछ नहीं सब सम्भव है

१—सत्यमेव जयते नानृतम् सत्य ही जीतता है
भूठ नहीं । एक आत्मा को जानो और दूसरी सारी
बातें छोड़ दो । यही सत्य है ।

२—यह डर से मेहर आ चमका, अहाहाहा, अहाहाहा !
उधर मह^१ बीम^२ से लपका अहाहाहा, अहाहाहा ।
हवा अठखेलियां करती है, मेरे इक इशारे से ।
है कोड़ा मौत पर मेरा अहाहाहा, अहाहाहा ।

३—निर्भयता, जीवनमुक्ति, साम्राज्य, स्वराज्य
और किसी को कभी भी नहीं नसीब होते सिवाह उस
पुरुष के जो अपने आपको संशय रहित होकर पूर्णब्रह्म,
शुद्ध सच्चिदानन्द नित्यमुक्त जानता है । जो सर्वत्र
अपने ही स्वरूप को देखता है क्यों हिलेगा । उसका
दिल जो एक आत्मदेव बिना कुछ और देखता ही
नहीं । तारे टूट पड़ें, समुद्र जल उठे, हिमालय उड़ता

फिरे, सूर्य मारे ठण्ड के बर्फ का गोला बन जाय,
आत्मदर्शी ज्ञानवान को क्या हैरानो हो सकेगी ।
जिसकी आज्ञा से कुछ भी बाहर नहीं हो सकता ।

४—जो यहां नानात्व देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु
को प्राप्त होता है । ओ प्यारे, मेरे अपना आप द्वेषातुर
मूर्ख । जितना औरों को चने चबवाने चाहता है,
उतना अपने ताँई ब्रह्मध्यान की खांड खोर खिला ।
बैरी का वैरीपन एक दम उड़ न जाय तो सही ।
जो तुम्हारे अन्दर है वही सबके अन्दर है ।

५—किसी ने कहा—लोग तुम्हें यह कहते हैं, वह
कहते हैं ओ भोले महेश । तू इन बातों से अपने तकले
में व्यंग मत पड़ने दे । तू एक न मान, ब्रह्म बिना
दृश्य कभी हुआ ही नहीं । चित्त में त्याग और ब्रह्मा-
नन्द को भर तो देख, सब बलायें आंख खोलते-खोलते
सात समुद्रों पार न बह जाय तो मुझको समुद्र में
डुबो देना ।

६—तुम वही हो । तुम्हारे भय से सूर्य कांपता है,
पवन चलती है, तुम्हारे खौफ से समुद्र उछलता है,
तुम्हारे खौफ से मौत मारी मारी फिरती है ।

७—जब सर्वात्म दृष्टि हुई तब रोग दुःख और
मौत पास नहीं फडक सकते ।

८--प्रतीयमान वैरी विरोधी निन्दक लोगों को क्षमा करते हम इतनी देर भी न लगायें जितना श्री गंगा जी तिनकों को बहा ले जाने में लगाती हैं या आलोक किरणों अंधकार को हटाने में लगाती हैं ।

९--अहाहाहा ! अच्छे बुरे पुरुषों में जब हमारी जीव दृष्टि उठ जाय और उनको ब्रह्म रूपी समुद्र को लहरें जान लें तो राग द्वेष की अग्नि बुझ जायगी ।

१०--जब मनुष्य और पदार्थ सचमुच अपना ही रूप जाने गये तो यह धड़का कैसे हो कि हाँ जाने अमुक पुरुष मुझे क्या कहता होगा ।

११--शरीर आदि की पीड़ा, सम्बन्ध, लोगों की ईर्ष्या, द्वेष, सेवा सम्मान से मुझे क्या ? कोई बुरा कहे, कोई भला कहे, मैं एक नहीं मानूँगा । मुझ में कोई पीड़ा नहीं, कोई शोक, ईर्ष्या नहीं, राग नहीं, जन्म नहीं, मरण नहीं ।

१२--कुतुब अगर जगह से टले तो टल जाये ।

हिमालय वाद की ठोकर से भी फिसल जाये ॥

अगरचे बहर भी जुगनू की दुम से जल जाये ।

और आफताब भी कब्ले उरुज ढल जाये ॥

कभी न साहबे हिम्मत का हौसला दूटे ।

कभी न भूले से अपनी जबी पै बल आये ॥

१३-भयंकर भावी की भिनक पाकर बगुले की तरह गर्दन उठाकर घबड़ाकर क्या-क्या क्यों करने लगे ? आनन्द से बैठ मेरे यार । वहाँ कोई और नहीं है । तेरा ही परम पिता बल्कि आत्मदेव है ।

१४-छोड़ दो शरीर की चिन्ता को, मत रखो किसी का आस, परे फँको वासना, कामना, एक आत्म दृष्टि को दृढ़ रखो, तुम्हारी खातिर सब के सब देवता लोहे के चने भी चबा लेगे ।

१५-जब देखो कि चिन्ता, क्रोध, काम घेरने लगे हैं तो चुपके उठकर जल के पास चले जाओ । आचमन करो, हाथ मुँह धोओ या स्नान ही कर लो । अवश्य शान्ति आ जायगी और हरि ध्यान रूपी क्षीर सागर में डुबकी लगाओ । क्रोध के धुएं और भाप को ज्ञान-अग्नि में बदल दो ॥

१६-वृत्ति तब तक एकान्त नहीं हो सकती, जब तक मन में कभी यह आशा रहे और कभी वह इच्छा । शान्त वह हो सकता है जिसे कोई कर्त्तव्य और आवश्यकता खींच घसीट न रही हो । इसलिए जीने तक को आशा को त्याग कर मन को ब्रह्मानन्द में डाल दो । आज हो से समझ लो कि यह शरीर है ही नहीं और ब्रह्मानन्द के सागर में शंका

रहित होकर कूद पड़ो ।

१७—हे प्रभो ! अब तो मुझ से दो दो बातें नहीं निभ सकतीं । खाने पीने कपड़े कुटिया का भी ख्याल रखूं और दुलारे का भी मुख देखूं । चूल्हे में पड़े खाना पहनना, जीना मरना । क्या इनसे मेरा निर्वाह होता है ।

१८—मैं तो इन बुद्धियो का प्रेरक आत्मदेव हूं, मैं तो वही हूं जिस का तेज सूर्य चन्द्रमा में चमक रहा है ।

१९—जब सर्व देश आत्मा में पाने लगे तो परोक्ष क्या रहा ? और स्थान सम्बन्धी चिन्ता क्यों कर उठे । जब सब काल में अपने तई देखा तो कल परसों आदि की फिकर कहाँ रही ।

२०—क्या सोचे, क्या समझे राम,

तीन काल का वा क्या काम ?

क्या सोचे, क्या समझे राम,

तीन लोक नहीं उपजा धाम ।

नित्य तृप्त मुखसागर नाम,

क्या सोचे क्या समझे राम ।

२१—अपने मजे की खातिर गुल छोड़ ही दिये जब,
रूये जमीं के गुलशन मेरे ही बन गये सब ।

जितने जवाँ के रस थे, कुल तर्क कर दिये जब,
 बस जायके जहाँ के मेरे ही बन गये सब ।
 खुद के लिये जो मुझ से दीदों की दीद छूटी,
 खुद हुस्न के तमाशे मेरे ही बन गए सब ।
 निजकी गरज से छोड़ा सुनने की आर्जू को,
 अब राग और बाजे मेरे ही बन गए सब ।
 अपने लिए जो छोड़ी खाहिश हवा खौरी की,
 वादे सवा के भोंके मेरे ही बन गए सब ।
 जब बेहतरी के अपनी फिक्रो ख्याल छूटे,
 फिक्रो ख्यालरंगी मेरे ही बन गए सब ।
 अहा ! अजब तमाशा मेरा नहीं है कुछ भी,
 दावा नहीं जरा भी इस जिस्म इस्म पर ही ।
 ये दस्तो पा है सब के, आंखें ये हैं तो सबकी,
 दुनियाँ के जिस्म लेकिन मेरे ही बन गए सब ।

२२-हम सब में एक ही आत्मा व्यापक है, हम
 सब एक ही समुद्र की तरंगें हैं ।

२३--शरीर तो मैं नहीं हूं । मैं वह हूं जिसका
 अन्त वेद भी नहीं पा सकते ।

२४--जिसको इस बात का विश्वास है कि मेरे
 भीतर आत्मा विद्यमान है तो फिर वह कौन सी ग्रन्थि
 हैं जो खुल नहीं सकती । फिर कोई शक्ति ऐसी नहीं

जो मेरे विरुद्ध हो सके । जब मैं ही हूँ तो मैं सब का स्वामी हूँ और जो चाहूँ सो कर सकता हूँ ।

२५—अगर कोई बीमारी हो जायगी तो केवल विचार शक्ति से उसको भगा देंगे । यही शक्ति यकीन है यही विश्वास है ।

२६—तेत्तीस करोड़ देवी देवताओं को भले हो माना करो, परन्तु जब तक तुम में भीतरी शक्ति जोश न मारेगी, तब तक तुम्हारा कुछ भला न होगा । जिस समय तुम्हारे भीतर का आत्म बल जागेगा तो सारे देवता भी अपनी सेवा के लिए हाथ जोड़े खड़े पाओगे । अभी तुम उनको मानते हो फिर वो तुमको मानेंगे ।

२७—श्रेय या फर्ज तो कहते हैं दे दो त्याग, लेकिन प्रेय या गर्ज तरगीन देती है । ले लो यह हमारा हक है, अधिकार है । दुनियां में अपने अधिकार पर जोर देना सुगम है किन्तु अपने फर्ज को पूरा करने पर जोर देते चले जाय तो हमारे अधिकार हमारे पास स्वयं आवेंगे ।

२८—यह हमारे भाग्य में नहीं था, ईश्वर की इच्छा, आजकल गुरु नहीं मिल सकता, अच्छा सतसंग नहीं दुनियाँ बड़ी खराब है । ऐसे वचन हमारी कायरता और अन्तःकरण की मलिनता के कारण से उठते हैं ।

२६--अगर सब कुछ कहीं बाहर ही की प्रारब्ध से होता तो शास्त्र विधि-निषेध के वाक्यों को जगह नहीं देता ।

३०--मैंने माना दहर को हक ने किया पैदा बले,
मैं वह खालिक हूं मेरी कुन से खुदा पैदा हुआ ।

३१--चर्म चक्षु से दृश्यमान सूरत को भूलकर ब्रह्म में मग्न होना यही उपासना है ।

३२--समदृष्टि तब होगी जब लोगों में भलाई बुराई की भावना उठ जाय समुद्र-दृष्टि होने से सम-धी और समाधी होगी ।

३३--जब तुम अन्दर वाले से बिगड़ते हो तो जगत तुम से बिगड़ता है जब तुम अन्दर के अन्तर्यामी रूप बन बैठे तो जगतरूपी पुतलीघर में फिर फसाद कैसा ?

३४--जब तुम दिल के मकर छोड़ कर सीधे ही जाओ तो तुम्हारे भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल उसी दम सीधे हो जायेंगे ।

३५--जब लोग चर्म की तरह आकाश को लपेट सकेंगे तब देव को जाने बिना दुःख का अन्त हो सकेगा ।

३६--जो यह देखता है कि "यह सब कुछ आत्मा है ।" वह न मृत्यु को देखता है न रोग को और न दुःख

ही को । ऐसा देखने वाला सब वस्तुओं को देखता है और सब प्रकार से सब वस्तुओं को प्राप्त होता है ।

३७--आपत्तियां पर्वत जैसा भले ही दीखें, चाहे सब जगह अंधेरा दीखे, ऐसा जान पड़े कि इस से बच कर निकल नहीं सकते फिर भी मत डरो. भाग जायगी, कुचलो लुप्त हो जायेगी ठुकराओ मर जायेगी ।

३८--करोड़ों दुःख रूपी कीटाणु आस पास क्यों न घूमते रहें, मत डरो । उनकी हिम्मत नहीं कि तुम्हारे ऊपर आक्रमण करें । अगर तुम्हारे मन में भय नहीं है ।

३९--मनुष्य की करी हुई निन्दा प्रशंसा में विश्राम मत करो । ये सब चीजें गुमराह करती हैं, और धोखा देती हैं ।

४०--बाहरी सुखों से कहो शैतान मेरे आगे मत आ, मैं तुझ से कुछ नहीं चाहता ।

४१--भजन करते समय निर्लज्ज चित्त में मकान के, अपने मान, अपनी जान के ध्यान आ जाते हैं । मूर्ख को इतनी समझ नहीं कि ये चीजें चिन्तन योग्य नहीं, चिन्तन योग्य तो एक प्रभु है ।

४२--ब्राह्मणत्व उसको परे हटा देता है जो आत्मा से इतर ब्राह्मणत्व को जानता है । क्षत्रियत्व उसको

परे हटा देता है जो आत्मा से अन्य क्षत्रियत्व को जानता है । लोक उसे परे हटा देता है, जो आत्मा से इतर लोकों को जानता है । देवता उसको परे हटा देते हैं, जो आत्मा से अन्य देवताओं को जानता है । वेद उसको परे हटा देता है, जो आत्मा से अन्यत्र वेदों को जानता है । प्रत्येक वस्तु उसे परे हटा देती है, जो प्रत्येक वस्तु को आत्मा से अन्यत्र जानता है । प्राणी लोग उसे परे हटा देते हैं अर्थात् दुतकार देते हैं जो प्राणियों को आत्मा से अन्यत्र जानता है ।

४३-यह ब्राह्मणत्व, यह क्षत्रियत्व, ये लोक, ये देव, ये प्राणी, ये सब वस्तु वही है जो कि यह आत्मा है ।

४४-भाई ! समाधि और मन की एकाग्रता तो तब होगी जब तुम्हारी तरफ से माल, धन, बंगले, मकान पर मानो हल फिर जाय, स्त्री, पुत्र, बैरी, मित्र पर सुहामा चल जाय, सब साफ हो जाय, राम ही राम का तूफान आ जाय, कोठे दालान सब बहा ले जाए ।

४५-जो भी कोई शिव की उपासना करते हैं, वे धनवान हो जाते हैं और लक्ष्मीपति विष्णु के उपासक निर्धन रह जाते हैं । अभिप्राय यह है कि जिन लोगों के हृदय में शिव रूप त्याग और वैराग बसा है ।

ऐश्वर्य, धन, सौभाग्य उनके पास स्वयं आते हैं और जिन लोगों के अन्तःकरण लक्ष्मी धन दौलत की लाग में मोहित हैं वे दारिद्र्य के पात्र रहते हैं ।

४६—“मैं सब कुछ कर सकता हूँ” ऐसा उच्च विचार, निरंतर उद्योग और धैर्य रखना चाहिये ।

४७—आँखों वाला केवल वही है, जिसकी दृष्टि जगत को चीर कर पदार्थों की स्थिरता पर न जम कर और लोगों की धमकी और प्रशंसा को काट कर एक तत्व पर जमी रहती है ।

४८—ऐ दिल ! तू अपना परदा आप है बीच से उठ जा । धीरे पुरुष इस संसार से मुंह मोड़ कर अमृत को पाते हैं ।

४९—सारी शक्ति निर्भयता से पैदा होती है । इसलिए बिल्कुल निर्भय हो जाओ । फिर तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा ।

५०—मुझ से पहले न जगत था यह,

मैं ही संसार बनाता हूँ ।

इस नील उदधि के अन्तर से,

मैं नभ में सूर्य सजाता हूँ ।

अपने कटाक्ष संकेतों पर,

मैं शशि को सदा नचाता हूँ ।

अपने इस अद्भुत कौशल की,

मैं तुम को बात बताता हूं ।

५१--अपने कार्य को लड़खड़ाते मजदूर की तरह न करो । राजा की तरह आनन्द प्राप्ति के लिए मजेदार खेल के रूप में करो । किसी काम को डरते घबराते हुए मत करो । तारों की तरह हंसते, खुश होते हुए काम करो ।

५२--परिस्थितियों के कुहरे और बादल को अपने ऊपर क्यों छाने देते हो । क्या तुम सूर्य के सूर्य नहीं हो ? क्या तुम इस ब्रह्माण्ड के स्वामी नहीं हो । ऐसी कौन-सी परिस्थितियाँ हैं जिन्हें तुम हटा नहीं सकते किसी भी खराब से खराब परिस्थिति को ज्यादा वास्तविक मत समझो । तुम निर्भय हो निर्भय हो निर्भय हो ।

५३--मुझ में यह भावना भरी हुई थी कि न मैं शरीर हूं, न मन हूं, मैं तो साक्षात् ब्रह्म हूं । कोई आग मुझे जला नहीं सकती, कोई अस्त्र मुझे मार नहीं सकता । सर्वशक्तिमान परमात्मा मैं ही हूं, अनन्त ब्रह्म मैं ही हूं ।

५४--बाहर की चीजों में विश्वास करोगे तो तुम असफल रहोगे । यही नियम है ।

५५--जब हम दूसरों पर निर्भर करते हैं, दूसरों

के भरोसे करते हैं तो हम अपनी आत्मिक शक्ति खो देते हैं । जब हम अपनी आत्मा में विश्वास करते हैं और आत्मा के अतिरिक्त किसी चीज में विश्वास नहीं करते तब सब सम्पदायें हमारे पास आती हैं ।

५६--अपने आप को ब्रह्म समझो और तुम सब ब्रह्म हो । अपने आपको मुक्त समझो और तुम उसी क्षण मुक्त हो ।

५७--निश्चय समझो कि यदि तुम अपने ऊपर भरोसा रख सकते हो तो कहीं भी सफलता पाओगे, तुम्हारे लिए कुछ असम्भव नहीं है ।

५८--सब कान मेरे कान, सब नेत्र मेरे नेत्र, सब हाथ मेरे हाथ, सब मन मेरे मन, मैंने मौत निगल ली, सब भेद मैं पी गया, कैसा तरौ ताजा, अच्छा और बलवान मैं हो गया ।

५९--जब हम जान लेते हैं कि आत्मा केवल एक ही है । विभिन्न नामों से जितनी शकलें-सूरतें दिखाई देती हैं वे सब हमारी वही वास्तविक आत्मा है । अन्यथा शीश महल के कुत्ते के समान दशा होती है । हमें हमेशा डर लगा रहता है कि यह हम को धोखा देगा, वह हानि करेगा ।

६०--आंखें बन्द कर लो, दुनियाँ का पाँचवाँ भाग

समाप्त । कान बन्द कर लो, पांचवां हिस्सा और गायब । नाक बन्द करो, पांचवां हिस्सा और गुप्त । अपनी किसी इन्द्रिय से काम न लो तो कहीं कोई दुनियां नहीं रह जायगी ।

६१—अपने आपको परिस्थिति का गुलाम मत समझो । तुम अपने भाग्य के विधाता हो । चाहे तुम जिस दशा में हो, वातावरण कुछ भी हो, देह चाहे कारागार में डाल दी जाय. अथवा तेज धार में बहा दी जाय या किसी के पैरों तले कुचली जाय । याद रखो “मैं ईश्वर हूं” जो सारी अवस्थाओं का स्वामी हूं । मैं देह नहीं, मैं भाग्य विधाता हूं ।

६२—दुनिया मेरा शरीर है । सम्पूर्ण विश्व मेरा शरीर है, जो ऐसा कह सकता है वही आवागमन के बन्धन से मुक्त है । वह तो अनन्त है कहाँ जावेगा और कहाँ से आवेगा । सारा विश्व ब्रह्माण्ड उसमें है ।

६३—वेदान्त रसायन विद्या के समान प्रयोगात्मक विज्ञान है ।

६४—वेदान्त निराशावाद नहीं है वह तो आशावाद का सर्वोच्च शिखर है ।

६५—किसी भी प्रसंग को मन में लाकर हर्ष शोक के वशीभूत मत हो जाना । मैं अजर हूं, अमर हूं, मेरा

जन्म नहीं, मेरी मृत्यु नहीं, मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ ।
यही भाव दृढ़ रीति से हृदय में धारण करके जीवन
व्यतीत करना । इसी भाव की निरन्तर सेवा करना
और उसी में तल्लीन रहना ।

६६—जो शोक, दुःख, प्रलय और महा-प्रलय के
समय भी छाती ठोक कर अचल खड़ा रह सके ऐसा
वीर होना चाहिये ।

६७—मुक्ति अथवा आत्मज्ञान यह तेरे ही हाथ में
है । यह बात तुझसे विश्वास पूर्वक कहता हूँ ।

६८—अमुक क्या कहता है क्या नहीं, इस पर यदि
व्यान दिया करें तो कुछ काम नहीं कर सकते ।

६९—इसी तरह अच्छे बुरे आदमी और अमीर
गरीब लोग तो तरंगें हैं । जिनमें एक ही ब्रह्मसमुद्र
ठाठें मार रहा है ।

७०—मंगलरूप प्रकाश मम, किसका करूँ बखान ।

लहरावत सब देवता, मैं हूँ सिंधु समान,

मैं हूँ सिंधु समान छिन परिछिन्न विहूनो,

साखा दीनी छोड़ मूल को पानी दीनो ।

धर्मदास ला कैद मुझे नहीं कोई संगल,

मुझ बिन दूसर कौन करूँ मैं किसका मंगल ।

७१—शरीर और मन को निरन्तर इतना अधिक

कार्य व्यस्त रखो कि श्रम का अनुभव न हो ।

७२--चाहे हजारों रूपों में चकित करे, तथापि ऐ मेरे प्यारे ! मैं तुम्हे अच्छी तरह पहचानता हूँ, तू अपने चेहरे को चाहे जादू से छिपावे पर मुझ से छिप नहीं सकता ।

७३--बाहरी बातों के बारे में सोचकर अपनी मानसिक शान्ति भंग न करो ।

७४--वेदान्त के अनुसार सारा संसार आप की अपनी बनाई सृष्टि है, अपनी कल्पना है । तो अपने आप को दीन और दुःखी क्यों समझते हो ? अपने आपको भयशून्य, आत्म विश्वासी, ब्रह्मरूप क्यों नहीं समझते हो ?

७५--जब हम सर्वात्मना तत्पर होंगे, तब तो अपने व्यापक रूप के दर्शन में सफल न होने का कोई कारण ही नहीं रह जायगा ।

७६--यह समझ लेने वाला पुरुष आनन्द के सिवाय दूसरा कुछ है ही नहीं । किसी भी बात और किसी भी घटना से नहीं डरता । ऐसा जान चुकने वाला पुरुष पाप पुण्यों को छोड़कर सदा आत्मा को याद करने लगता है और किये हुए कर्म को भी आत्म-रूप हो जान लेता है ।

७७—‘धीर’ हम उसी को कहते हैं जब इन्द्रियाँ विषयों की ओर जाने के लिए जबरदस्ती करने लगें तब भी जो आत्मानन्द के आस्वाद की इच्छा से उन सबको डांट बताकर उसी की चिन्ता में लगा रहे ।

७८—विवेकी पुरुष इस प्रतीयमान जगत को मिथ्या मान लेता है । उसके बाद फिर जब उसे यह जगत भासता है तब वह इसे इन्द्रियोपाधिक—भ्रम समझ कर टालता रहता है । वह जान लेता है कि जब तक ये इन्द्रियाँ बनी हैं तब तक ऐसी प्रतीति होती ही रहेगी । वह फिर इसको सत्य मानकर कोई भी व्यवहार नहीं करता ।

७९—इनमें जो अलग-अलग नाम रूप हैं वे निस्तत्व हैं । क्योंकि इनके जन्म और नाश बराबर होते हैं । ज्योंही कोई अधिकारी इस सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्द को बुद्धि-योग से देख लेगा (चाम की आँखों से नहीं), तब धीरे-धीरे इन नाम रूपों की अवहेलना बढ़ने लगेगी त्यों-त्यों नाम रूप छुटने लगेंगे ।

८०—ये नाम रूप ब्रह्म में ऐसे हैं जैसे कपड़े पर कोई चित्र बना दिया गया है । जब कोई उन नाम रूपों की उपेक्षा कर सके तभी उसे सच्चिदानन्द रूप ब्रह्मतत्त्व के दर्शन होंगे ।

८१-जगत के दीखने वाले नाम रूपों का परित्याग कर देने पर सच्चिदानन्द में ही ज्ञानी की ममता हो जाती है । इसी लिये विवेकी लोग हजारों प्रकार से दीख पड़ने वाले नाम रूपों की उपेक्षा करते रहते हैं ।

८२-लौकिक पदार्थ भले ही भासा करें । उन के सत्य होने का वृथा विचार सर्वथा छोड़ दो । जब लौकिक पदार्थों की उपेक्षा कर दी जायेगी, तब ब्रह्मचिन्तन का कांटा जाता रहेगा । फिर तो बुद्धि ब्रह्मचिन्तन में ही जुट जायेगी ।

८३-वस्तुतः आत्मा में सुख दुःखादिक तीनों काल में भी नहीं है ।

८४-जब सारा जगत रज्जु में सर्प की तरह कल्पित है और मिथ्या है, तब बंध और मोक्ष पुरुष को कैसे हो सकता है ।

८५-जब सारा विश्व अन्दर है तब बाहर देखने सुनने की जगह कहाँ है ? अतः बाहर में देखना सुनना निरर्थक है ।

८६-जो कुछ तुम देखते हो वह सब तुम्हीं हो ।

८७-लोगों को अच्छे-बुरे आचरणों और सम्वादों को अपने चित्त से नितान्त धो डालना चाहिये । इसी

प्रकार अच्छे बुरे लोग जो भी मिलें उनकी हमें पूर्ण उपेक्षा करनी चाहिये और अपनी आध्यात्मिक दशा की उन्नति करनी चाहिये ।

८८—किसी वस्तु को ईश्वर से बढ़ कर मत समझो । ईश्वर के बराबर किसी का भी मूल्य मत करो ।

८९—निन्दा—स्तुति और सुख—दुःख सबके सब एक समान घातक हैं ।

९०—यदि हम देहाभिमान को दूर करके साक्षात् ईश्वर को अपने शरीर के भीतर से कार्य करने दें तो दुद्ध भगवान या हजरत ईसा हो जाना उतना सहज है जितना कि निर्धन पाल ।

९१—दुनियाँ नहीं है, संसार नहीं है, और संसारिक जीवों की बातें कुछ नहीं है । ईश्वर ही एक मात्र सत्य है ।

९२—संसार में कोई पदार्थ नहीं जो मुझे बांध सके, प्रत्येक वस्तु वास्तव में मुझ से उत्पन्न होती है ।

९३—अपने पैरों पर आप खड़े हो जाओ । चाहे आप छोटे हों या बड़े, चाहे आप उच्च पद पर हों या नीचे पद पर, इसकी तनिक परवाह मत करो । अपनी प्रभुता का, अपनी दिव्यता का साक्षात्कार करो । चाहे

कोई हो, उसको ओर निशंक दृष्टि से देखो, हटो मत ।

६४—अपने आप को औरों की दृष्टि से अवलोकन मत करो, बल्कि अपने आप में देखो । आपका अपना आप आपको बार-बार यह उपदेश देगा कि सारे संसार में आप सब से महान (आत्मा) हो ।

६५—ऐ महिलाओं और भद्र पुरुषों के रूप में मेरे अपने आप ! ऐ प्रति व्यक्ति रूप में मेरे आत्मन ! ऐ सर्व रूपधारी आनन्दमय आत्मन ! प्रकाश का तात्पर्य है सत्य का इतना अधिक अनुभव कि सर्व दृश्य मात्र देह और रूप शून्य में परिणत हो जाय ।

६६—अनुभवी पुरुष के सामने कैसा ही व्यक्ति आ जाय, वह उस व्यक्ति के तुच्छ अहंकार या बाह्य शरीर को नहीं देखेगा । वह केवल ईश्वरत्व देखेगा ।

६७—चाहे करोड़ों सूर्यों का प्रलय हो जाय, अगणित चन्द्रमा भले ही गल कर नष्ट हो जाएं, पर ज्ञानी पुरुष मेरे की तरह अटल और अचल रहता है ।

६८—ये सब शरीर मेरे हैं, ये सब मेरी देह के समान हैं तो लोग भी वैसा ही समझने लगते हैं ।

६९—यदि आप अपनी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहते हैं, तो आपको उन इच्छाओं को त्यागना चाहिए ।

१००—यदि आप भौतिक रूप को हृदय में स्थान

दोगे, यदि आप उसमें आसक्त हो जाओगे, उसे बेहद प्यार करने लगोगे तो आप देखोगे कि अवश्यमेव कुछ अकथ घटना घट जायगी और उस वस्तु को हर लेगी या परिवर्तन हो जायगा ।

१०१-भौतिक पदार्थों में आसक्ति रखना एवं क्षणिक भौतिक पदार्थों को (विषयों को) सत्य समझना ही दुःख, दर्द और चिन्ता को लाना है । इसलिये बाहरी नाम-रूपों पर अपना समय और शक्ति नष्ट नहीं करना चाहिये ।

१०२-जब कि पृथ्वी ही शून्य मात्र है तब पृथ्वी पर के सारे पदार्थ शून्य रूप ही हैं । इसी तरह जब आकाश भी शून्य रूप है तो आकाश के भीतर जितनी चीजें हैं सब शून्य रूप ही हैं । यथा (पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु) ।

१०३-चाहे यह शरीर शूली पर चढ़ाया जाय या कैद में रखा जाय, चाहे महासागर की विशाल तरंगें निगल जायें, या अग्नि इसे झुलसा दे अथवा और कुछ बाधा भले ही आ पड़े, पर मेरा दृढ़ निश्चय भंग नहीं हो सकता ।

१०४-सारे स्थूल शरीर कठ-पुतलियों के तुल्य हैं । आमतौर से लोग उन्हीं स्थूल शरीरों को वास्तविक

रूप से करने वाला स्वतंत्र और कर्त्ता मानते हैं ।

१०५—जब अपने व्यक्तित्व के विषय में सोचना नितान्त त्याग दिया जाय तो इसके समान कोई सुख नहीं, इसके समान कोई अवस्था नहीं ।

१०६—आप कोई भी काम करो पर यह न भूलो कि आपका सच्चा स्वरूप परमेश्वर है । 'मैं जो हूँ' वह निर्विकार है, वही सम्पूर्ण आनन्द है इसे न भूलो ।

१०७—'ऊँ' का मतलब है 'मैं हूँ' ऐसी दृढ़ भावना से चित्त उस तत्त्व में निमग्न हो जाता है । अनन्त देश, अनन्त काल, अनन्त वस्तु, अनन्त शक्ति, अनन्त तेज, अनन्त बल मैं हूँ ।

१०८—इस दुनिया में जो कोई आदमी किसी व्यक्ति या दुनियावी चीज में अपना दिल लगायेगा, उसे तकलीफ उठानी पड़ेगी । या तो यह प्रियजन अथवा प्रिय पदार्थ उससे छीन लिया जायगा या उनमें से एक मर जायगा या उनमें कलह हो जायगी ।

१०९—सब चित्रों के पीछे (अन्तर्गत) परमात्मा खड़ा है ऐसा अनुभव करो ।

११०—जो आपको सबसे अधिक हानि पहुंचाने की कोशिश कर रहे हैं उनका कृपापूर्ण और प्रेममय चिन्तन करो । वे तुम्हारे अपने स्वरूप हैं ।

१११-मैं सूर्यो का सूर्य हूं। प्रकाश, प्रताप, शक्ति मैं हूं। मुझे कौन हानि पहुंचाने वाला है ? मेरा अपना आप मेरे अपने आपको हानि नहीं पहुंचा सकता। यह असम्भव है।

११२-संसार के सारे भेद-भाव, परिस्थितियां मेरी सृष्टि है, तथा मेरो करतूत है। इसके सिवाय कोई चीज नहीं है। दुनिया मेरा संकल्प है। मैं ईश्वरों का भी ईश्वर हूं। यह सत्य है।

११३-किसी व्यक्तित्व और दलबंदी से व्याकुल और क्षुब्ध न होकर जो महावाक्य (अहं ब्रह्मास्मि) पर निरंतर मनन द्वारा एकाग्रता और समाधि होती है, वह स्वतः ही शक्ति स्वतंत्रता और प्रेम में परिणित हो जाती है।

११४-हे डगमग, चंचल, संशयात्मक चित्तो ! उत्साह-शून्य धर्म-परायणता और विधर्म-परायणता को अब छोड़ो। सब प्रकार का सन्देह और अगर-मगर निकाल डालो। सब मत-मतान्तर तुम्हारी ही सृष्टि हैं। सूर्य चाहे पारे की थाली सिद्ध हो जाय, पृथ्वी उदराकार या खोखला मण्डल भले ही प्रमाणित हो जाय, वेद सम्भव है पौरुषेय ठहराए जा सकें, किन्तु तुम ईश्वर के सिवाय और कुछ नहीं हो सकते। और

कुछ नहीं हो सकते ।

११५—हे मूढ़ और अदूरदर्शी जोव ! इस आदर्श रूप विधान की अपेक्षा बाह्य रूपों (व्यक्तियों) को क्यों अधिक प्यार करता है ? इसलिए कि अज्ञान के कारण उनको ये व्यक्तियाँ और बाह्य रूप निरन्तर एक रस रहने वाले सत्य पदार्थ दिखाई देते हैं ! और दैवी विधान एक अस्पश्य क्षणिक मेघ सदृश भान होता है । केवल शिव ही सत्य है और अन्य सब व्यक्तियाँ एवं प्रीति के पदार्थ क्षणिक आभास रूप छाया मात्र तथा मिथ्या प्रेत रूप हैं ।

११६—लोग इस शरीर को स्वार्थी, सर्व गुण-मदोन्मत अथवा अन्य जो चाहे कहें । चाहे जिसे लोग अपमानित, पददलित और मृतक जैसा कहते हैं, वैसा ही उसको कह दें । मुझ (सर्व आत्मा) को इससे क्या ?

११७—यदि हम लोग बाहर से प्राप्त हुई निन्दा-स्तुति में विश्वास न करने की शक्ति अपने भीतर उपार्जित कर लें, यदि उतना ही विजय प्राप्त करना हमारा उद्देश्य न हो, यदि हम कार्य करने के ज्वर से मुक्त हो जाएँ, यदि सत्य को उपदेश की अपेक्षा स्वयं सत्य बनने में हम अपनी शक्ति अधिक लगाएँ तो

ईश्वरों के ईश्वर हम हो सकते हैं ।

११८—संसार में केवल एक ही रोग है और एक ही दवा भी है । “ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या” इस वेदान्तिक नियम का भंग ही सारी व्याधियों की जड़ है जो कभी एक दुःख का रूप धारण करती है और कभी दूसरे का । और इसकी औषधि है अपने वास्तविक ईश्वरत्व को प्राप्त करना ।

११९—सारी चिन्ताएं, सारे दुःख दर्द आपके भीतर ही रहते हैं, कभी बाहर नहीं होते ।

१२०—सारी शंकाएं अज्ञान-जन्य हैं, एक पल में उड़ सकती हैं ।

१२१—अपने को अपमानित, पददलित या पतित कभी मत समझो । अपने ऐश्वर्य की प्राप्ति करो । अन्यथा सब अज्ञान है ।

१२२—जब तक आप अपने अन्तःकरण के अंधकार को दूर करने पर न तुलोगे, तब तक तीन सौ तैंतीस कोटि कृष्ण क्यों न अबतार ले लें, तो भी कुछ लाभ न होगा ।

१२३—जब शरीर अथवा बाह्य मायाविक रूप इतना प्रधान हो जाता है कि जिससे भीतर का ईश्वर विस्मृत हो जाय, तब आपकी अधोगति होती

हैं । इसे दूर करो । तब आप देखेंगे कि सारी शक्तियाँ (ऋद्धि-सिद्धियाँ) आपकी सेवा कर रही हैं । इसका निदिध्यासन करो, फिर सारे सूर्य चन्द्र, और तारे आपका हुकुम बजावेंगे ।

१२४—किसी व्यक्ति को परमात्मा से भिन्न, किसी अन्य भाव से, देखने की कभी कोई सम्भावना, मुझे नहीं रही ।

१२५—इस संसार की सभी चीजें ईश्वर का चित्र चिन्ह मात्र है । पुरुष और स्त्री इन्हीं चित्रों के शिकार होते हैं । वे बुतपरस्तों का शिकार बनते हैं । और मूर्तियों के गुलाम हो जाते हैं ।

१२६—शरीर, भीतरी परमेश्वर का चित्र, प्रति-मूर्ति या वस्त्र है । वस्त्र के अथवा इसके पहनने वाले व्यक्ति से, भीतरी असलियत से अधिक प्यार मत करो ।

१२७—जिस क्षण तुम इन सांसारिक पदार्थों में सुख ढूँढना छोड़ दोगे और स्वाधीन हो जाओगे, अपने भीतर के परमेश्वर को अनुभव करोगे, उसी क्षण तुम्हें ईश्वर के पास नहीं जाना पड़ेगा पर ईश्वर स्वयं तुम्हारे पास आवेगा । यही दैवी विधान है ।

१२८—यदि क्रोधी तुम्हें शाप दे और तुम कुछ

न बोलो तो उसका शाप आशीर्वाद के रूप में बदल जायगा ।

१२६—जो कुछ है सब आत्मा ही है । आत्मा के सिवाय कुछ भी नहीं है तो “तुम आत्मा ही हो ।” ऐसा निश्चय करो ।

१३०—जब कि सब कुछ ‘मैं ही हूं’ तो दुःख और मुख अथवा बंध और मोक्ष आदि मुझसे पृथक् कोई ऐसी वस्तु नहीं रहती जो मुझे बाधा दे ।

१३१—प्रत्येक प्राणियों का चेतनरूप ब्रह्म मैं ही हूं ।

१३२—जब हम ईश्वर के प्रतिकूल हो जाते हैं तब हमें कोई मार्ग नहीं दीखता और हमें घोर दुःख उठाना पड़ता है । जब हम ईश्वर में तन्मय होते हैं तब ठीक उपाय, ठीक प्रवृत्ति, ठीक प्रवाह, आप ही आप हमारे हृदय में उठते हैं ।

१३३—अपने आपको अड़ोस-पड़ोस के लोगों को ही आंखों से देखना, अपने सच्चे स्वरूप पर स्वयं ध्यान न देना बल्कि दूसरों की दृष्टि से अपना निरीक्षण करना, यह जो स्वभाव है, यही हमारे सारे दुःखों का कारण है । हम दूसरों की नजरों में अत्यन्त भला जंचना चाहते हैं, यही समाज का सामाजिक दोष है और सभी धर्मों का प्रधान अवगुण है ।

१३४—तुम्हें अपने को किसी देवता या ईश्वर या कृष्ण अथवा संसार के किसी महात्मा के अधीन क्यों समझना चाहिये ? तुम सब के सब स्वतंत्र हो, मुक्त हो । मुक्ति के भाव को ग्रहण करते हो वह तुम्हें सुखी बना देगा ।

१३५—लोग क्यों दुःख सहते हैं ? वे दुःख सहते हैं निज आत्मा को अज्ञानता के कारण, जिससे उनको अपना सत्य स्वरूप भूल जाता है । और जो कुछ दूसरे उनको कहते हैं वही वे अपने को समझ लेते हैं । और यह दुःख तब तक बराबर बना रहेगा जब तक मनुष्य आत्मा का साक्षात्कार नहीं कर लेगा ।

१३६—जब तक बाह्य रूपों में आसक्ति रखेंगे, तब तक यह उत्थान-पतन होता ही रहेगा ।

१३७—जिसको ब्रह्म से एकता है उसकी सब इच्छायें परिपूर्ण हो जाती हैं । उसे कभी कोई धोखा नहीं होगा, कोई पीड़ा या कष्ट न होगा ।

१३८—जिस तरह जल मात्र का केन्द्र समुद्र है, इसी प्रकार सब स्पर्शों का त्वचा, सब गंधों का नाक, सब रसों की जिह्वा, सब रंगों का नेत्र, सब शब्दों का कान, सब संकल्पों का मन, सब विद्याओं का हृदय,

सब कर्मों के हाथ, सब आनन्दों का उपस्थ, सब त्यागों का पायु, सब गतियों का पैर और सब वेदों की वाणी केन्द्र व गति है । उसी तरह सम्पूर्ण संसार और संसार के सारे पदार्थ अपना केन्द्र केवल आत्मा-निज-स्वरूप पवित्र आत्मा में रखते हैं । सारे रोगों का केन्द्र भी उसी में है । सभी रंगों, रसों, शब्दों, इन्द्रियों द्वारा कर्मों का अपना केन्द्र केवल आत्मा में मिलता है । उसी से हर एक वस्तु निकलती है ।

१३६—जहां यह द्वैत सा होता है, वहीं एक दूसरे को सूंघता है, एक दूसरे को देखता है, एक दूसरे को सुनता है, एक दूसरे का अभिवादन करता है, एक दूसरे को मनन करता है, एक दूसरे को जानता है । किन्तु जब इसका आत्मा ही सब कुछ हो गया तो कौन किसको सूंघे कौन किसको देखे ? वह किसको सुने ? कैसे वह किसका अभिवादन करे ? किससे किसको मन में लाये, किससे किसको जाने ? जिससे इस सबको जानता है उसको किससे जाने ? प्रिय ! वह विज्ञाता (अपने) को किससे जाने ?

१४०—अनन्त स्वरूप आत्मा के सिवाय कोई और वस्तु है ही नहीं जिसे आप देखें या सुनें । न कोई द्वैत है, न कोई पदार्थ है ।

१४१-शरीर भीतरी परमेश्वर का चित्र, प्रति-
मूर्ति या वस्त्र है। वस्त्र को, इसके पहनने वाले
व्यक्ति से, भीतरी असलियत से अधिक प्यार मत करो।

१४२-हर एक वस्तु आपके लिये ईश्वर बन
जानी चाहिये।

१४३-जिस समय जगत के सारे पदार्थ चित्र या
चिन्ह मात्र बन जाते हैं, जिस समय हम पदार्थों को
पदार्थ भाव से नहीं देखते बल्कि उनके पीछे उनके
आधार रूप निर्विकार आत्मा देखते हैं, जिस समय
हमारी दृष्टि इस या उस पदार्थ पर पात होते ही,
उसमें हमारा हृदयनेत्र शुद्ध स्वरूप परमात्मा को देखता
है। जिस समय ऐसी स्थिति प्राप्त होती है तब
समस्त विश्व के साथ एकता अभेदता अनुभव करना
मनुष्य के लिये सुगम हो जाता है। यही ईसा दशा है।
इस ईसा की अवस्था में कुछ काल रहने के बाद
दूसरी इससे भी उच्चतर स्थिति आती है। तब हम
परमात्मा में पूर्णतया लीन हो जाते हैं। इसको हम
निर्वाण या समाधि अवस्था कहते हैं।

१४४-शत्रुओं को शत्रु रूप में त्याग दो और
ईश्वरत्व का अनुभव करो। प्रत्येक प्राणी और पदार्थ
में ईश्वरत्व का अनुभव करो।

१४५—अपने शरीर के मरने-जोने की चिन्ता न करो । आपके शरीर की लोग पूजा करते हैं या उस पर ढेले मारते हैं, इसकी परवाह मत करो इससे ऊपर उठो ।

१४६—समस्त पीड़ायें (शारीरिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक) वेदान्त का अनुभव करने से तुरन्त रुक जाती हैं । और, इसका अनुभव करना कठिन काम नहीं है !!!

१४७—दुनियां का सम्पूर्ण लोक-मत और समाज केवल मेरा ही संकल्प है और मैं ही वह असली शक्ति हूं जिस की सांस या छाया मात्र यह सारी दुनिया है ।

१४८—अपने ही भीतर परमेश्वर को प्रसन्न करने का यत्न कीजिये । अनैक्य जनता और बहुमत को आप किसी हालत में सन्तुष्ट नहीं कर सकेंगे ।

१४९—जब आपका 'अपना आप' प्रसन्न है, तब जनता अवश्य सन्तुष्ट होगी ।

१५०—भूतकाल की मुझको चिन्ता नहीं और भविष्य की इच्छा नहीं । वर्तमान विषय तथा प्राप्त राग-द्वेष से रहित होकर विचरता हूं ।

१५१—न मैं हूं, न जगत है, न पृथ्वी है; तो शोक किसका करना ?

१५२—संकोच और भय से मनुष्य दुरवस्था में

पड़ता है । किसी भी चीज से विचलित न होओ, न उसकी आकस्मिकता से डरो । शरीर में आसक्ति पैदा करने वाले भय को दूर भगा दो ।

१५३—यदि मन में भय नहीं है तो बाहर से कितना ही भय का सामान हो उससे तुम्हारा कुछ नुकसान नहीं होगा । यदि मन में भय है तो बाहर से अवश्य भय प्रदर्शित होगा । नहीं होने पर भी उपस्थित हो जायगा ।

१५४—यदि मन में भय न हो तो भय का हेतु होने पर भी भय नहीं लगता पर यदि मन में भय है तो बिना कारणभी डर के हेतु पैदा हो जाते हैं । भूत का भय मन में होने पर झूठमूठ भूत पैदा हो जाता है ।

१५५—जब तक संसार का शब्द अर्थ इसके हृदय में दृढ़ है तब तक शब्द अर्थ को अभाव की चिन्ता करे । जहां इसको जगत भासता है वहां ब्रह्म की भावना करे । जब ब्रह्म भावना करेगा तब संसार के शब्द अर्थ से रहित होवेगा । अरु आत्म पद भासेगा ।

१५६—जैसे छोटे बालक के हृदय विषे जगत के शब्द अर्थ नहीं होता वैसे ज्ञानी की चेष्टा भी प्रारब्ध वेग करके होती है । परन्तु उसके हृदय विषे शब्द अर्थ का अभाव है ।

१५७—वह इन सैकड़ों चित्रों से (चराचर के

चित्रों से) बहुत खुश हुआ क्योंकि वह जानता है ये सब चित्र स्वयं अपने ही हैं ।

१५८—जैसे स्वप्न विषे नाना प्रकार के शब्द भासते हैं सो कुछ वास्तव नहीं, पत्थर की न्याई मौन है । वैसे जाग्रत विषे भी जेते कुछ शब्द होते हैं सो सब स्वप्न है । कुछ हुआ नहीं, केवल आत्मसत्ता अपने आप विषे स्थित है ।

१५९—जैसे स्वप्न विषे द्रष्टा हो दृश्य रूप होता है और नाना प्रकार के कर्म दृष्ट आते हैं । परन्तु अपर कुछ हुआ नहीं ।

१६०—समाधि का अभ्यास करने पर अनुसन्धान आलस्य, भोगवासना, लय, तम, विक्षेप, रसास्वाद और शून्यता आदि विघ्न बलात्कार से अवश्य आते हैं । ब्रह्मवेत्ता को धीरे-धीरे सबका त्याग करना चाहिये ।

१६१—जब सब नारायण ही हैं तो भय किससे होवे ? भय दूसरे से होता है ।

१६२—मुझ चैतन्य आत्मा के भय से सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, यम, समुद्र, नदियां, ब्रह्मा, विष्णु, शिवादिक सब दृश्य भयभीत होते हैं ।

१६३—चित्र की मूर्ति चितेरे को कैसे भय देवेगी ? अनेक प्रकार की पुतलियां तंत्री को कैसे

भय देवेंगी ? अपने आत्मा को दृश्य-भय कैसे देवेंगी ?

१६४—मुझ विषे मरना-जीना दोनों नहीं है तो भय क्यों रखूँ ?

१६५—आप बिना कुछ न देखे, न सुने । क्योंकि मुझ सच्चिदानन्द स्वरूप बिना और कुछ है ही नहीं ।

१६६—वेद सहित सर्व संसार को स्वप्नवत् जानना है । जो इससे आगे भी कर्त्तव्य माने सो भ्रमी पुरुष है

१६७—सब मुझ से भय खाते हैं मैं किसी से भय नहीं खाता । उलटा कालादिक दृश्य मुझ चैतन्य से भय करते हैं ।

१६८—जो कुछ शब्द-अर्थ हैं, जिसको द्वैत रूप नहीं भासते, वह जीवन मुक्त है ।

१६९—किसी भी परिस्थिति में ऊपरी कठोरता और भयानकता में भयभीत नहीं होना चाहिए । कष्टों के काले से काले मेघ के पीछे पूर्ण प्रकाशमय, एकरस, परम सत्ता सूर्य की भाँति सदा ही विद्यमान है ।

१७०—जिस क्षण तुम सफलता की ओर पीठ कर लोगे, जिस क्षण परिणामों की चिन्ता छोड़ दोगे, जिस क्षण तुम अपने वर्तमान कार्य में अपनी सारी शक्ति केन्द्रित कर दोगे, उसी क्षण सफलता तुम पर न्योछावर हो जायगी । बल्कि तुम्हारे पीछे-पीछे

दौड़ेगी । इसीलिये सफलता के पीछे मत भागो ।
सफलता को अपना ध्येय मत बनाओ । और तभी
सफलता आपकी दासी बन जायगी ।

१७१—हमीं हैं खुद खुदा यारो,
नहीं पैदा हमारी है ।

हमीं जिन्दा हमेशा हैं,
न मरना मन करारी है ॥

पड़ी वे खौफ की कफनी,
न है माला न है जपनी ।

मिटो तनिं ताप की तपनी,
खुली अनुभव की वारी है ॥

१७२—यह निश्चय करो कि जिस विचार और
शब्द से भय उत्पन्न होता है, वह केवल अज्ञान है ।
तुम्हें भय किसका ? संसार में आप ही आप तो हैं ।
इसी निश्चय पर पर्वत की भांति अविचल रहो ।

१७३—पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण यह चारों
दिशायें, जो अनन्त विस्तार वाली दिखाई दे रही हैं,
उन्हें तुम ब्रह्म का एक पाद समझो । आकाश, पृथ्वी,
समुद्र और पाताल इन चारों को ब्रह्म का दूसरा पाद
जानो । तुम अपने नेत्र, कान, नासिका और मन इन
चारों को ब्रह्म का तीसरा पाद जानो ।

१७४—जब तुम दुःखी या रूग्ण अवस्था में हो, मृत्यु का भय सताये, तब आप अपने को अजर अमर आत्मा कर चितवन का निर्भय हो जाओ ।

१७५—जब भेद वादियों के बीच में भ्रम-युक्त रोचक, भयानक वचन श्रवणकर चित्त घबड़ाने लगे तो एक दम अपने को उस अज्ञान-संयुक्त-चित्त का साक्षी मानकर, उन कल्पित वचनों को त्याग दो ।

१७६—जब जीवन सम्बन्धी शोक चिन्ता आ घेरे तो अपने आनन्दस्वरूप का गायन करते हुये उस मोह माया को भगा दो ।

१७७—अगर कोई शरीर सम्बन्धी अंग-भंग हो जावे तो सदा अपने को आकार रहित चेतन आकाश-वत निश्चयकर शरीर की झुटियां या कमी बेशियाँ, सब भूल जाओ ।

१७८—जब दुनिया के किसी भारी चक्कर में आ फंसे तो उस वक्त अपने स्वरूप को निर्लेप और नित्यमुक्त निश्चयकर उस जाल से निकल जाओ ।

१७९—जब कोई गृहस्थ सम्बन्धी कठिन समस्या आकर व्याकुल करे तो उसको एक मदारी का खेल समझते हुए अपने को संग सम्बन्ध से निराला जानकर

उस बोझ को हलका करदो ।

१८०-अगर कोई क्रोध से आवेश में अपमान युक्त वचन कहें तो अपने शान्तमय स्वरूप में स्थिर होकर कोई भी क्षोभ मन में न उत्पन्न होने दो ।

१८१-जब किसी प्रकार की कामना चित्त को उत्तेजित कर सताने लगे, तब अपने पूर्ण तृप्त स्वरूप का स्मरण कर उस दीनता से दूर हो जाओ ।

१८२-जब शरीर वा इन्द्रियों से कर्म करने का मौका मिले तो अपने को साक्षी अवस्था में निश्चयकर किसी भी कर्म का कर्त्ता अपने को न मानो ।

१८३-अगर साधारण लोगों से मिलकर कार्य करने का मौका सामने आवे तो सब भेद-भाव दिल से हटाकर सहज और समता भाव से उस कार्य को पूरा करो ।

१८४-अहो ! यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें ही तो उत्पन्न हुआ है, तथा यह मुझ में ही स्थित है और मुझमें ही लीन हो जाता है । चराचर जगत् मैं ही हूं ।

१८५-जगत् रूपी चित्र आत्मस्वरूप चैतन्य में इस प्रकार माया से अर्पित है जैसे वस्त्र में चित्र । इससे मायोपाधिक जगत् की उपेक्षा करके चैतन्य का

१८६—कल कभी आना नहीं है । जीवित आज से टक्कर लेना है, न किसी बात को कल पर छोड़ना, न इसी चिन्ता में पड़ना कि कल क्या होगा । क्योंकि कल आने वाला नहीं है । और जिसे कल समझा जाता है तो आज बनकर आना पड़ेगा ।

१८७—दूसरों का बुरा लगना केवल इस कारण हमें सत्य का परित्याग नहीं करना चाहिये ।

१८८—नाम रूप ब्रह्म में इस प्रकार देखो जैसे समुद्र में बुलबुले प्रतीति मात्र हैं ।

१८९—यह सम्पूर्ण भेदमय दृश्य जगत सत्य नहीं है । सत्य केवल एक है । ये हैरान करने वाली परेशानियाँ सत्य नहीं हैं । आप दुनियाँ को परमेश्वर से अधिक सत्य बना देते हैं ।

१९०—दूसरों को प्रसन्न करने के उद्देश्य से कभी कुछ मत करो । जो नहीं कह सकते हैं वही वीर हैं ।

१९१—वेदान्त के अनुसार दयामात्र दुर्बलता है । वेदान्त कहता है, यदि आप सत्य पर इसलिये आपत्ति करते हो कि इससे किसी का दिल टूट जायगा तो सत्य की हत्या होने की अपेक्षा किसी व्यक्ति की मृत्यु बेहतर है ।

१९२—यह सर्वश्रेष्ठ सत्य है कि “आप परमेश्वर

हो" प्रभुओं के प्रभु हो' यही समझो, यही अनुभव करो और फिर आपको कोई भी हानि नहीं पहुंचा सकता । आप को कोई भी चोट नहीं पहुंचा सकता । आप प्रभुओं के प्रभु हो ।

१६३—ईश्वर का बनाया हुआ द्वैत भले ही बना रहे । उसको मिथ्या समझ लेने मात्र से ब्रह्म का बोध हो सकता है । साधक का काम द्वैत को मिथ्या समझने से ही चलता है ।

१६४—सभी मेरी दृष्टि में ईश्वर स्वरूप हैं । प्रत्येक पदार्थ ईश्वर का मन्दिर है ।

१६५—इच्छाओं की तृप्ति का उपाय एक है कि इच्छायें त्याग दी जायें ।

१६६—सत्य सदैव अप्रिय है, विकट है । हर एक शरीर में ईश्वर को देखने का दृढ़ निश्चय करो ।

१६७—जिस विवेकी ने इस जगत को सुपने या इन्द्रजाल के समान समझ लिया । जिसे दृष्ट नष्ट रूप में दीखने लगा, वह दोष दर्शी विवेकी भला बताओ इसमें अनुराग कैसे करे ।

१६८—ज्ञानी, जागरण को सत्य समझना छोड़ देने पर फिर पहले की भांति अनुरक्त नहीं होता । ज्ञानी प्रत्येक वस्तु को अपना आत्मा समझता है ।

१६६—मुर्दे की कल्पना को बार-बार मन में लाना काम वासना से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय बताया है । मुर्दे को पड़े हुये देखकर मन घबड़ाने लगता है ।

२००—जो किसी को द्वितीय रूप में देखता नहीं है । सबको अपना आत्मा ही समझता है, उसको किसी से भय नहीं होता ।

२०१—जब पाँचों भूत या पाँचों भूतों से बना हुआ कोई भी पदार्थ दीखे तब ही उसके सत्य तत्त्व पर दृष्टि पड़ने लगे और उसी में जमने लगे तो यही “द्वैतावज्ञा” है । यह “अद्वैत बुद्धि” है ।

२०२—शरीर का मोह छोड़कर भजन करना चाहिये । शरीर की जरा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । जैसा चिन्तन होता है, वैसा ही पदार्थों से वह घिर जाता है ।

२०३—विचारक लोग अपने जो में समस्त भूत भौतिक पदार्थों, मिथ्यापन को वासना दृढ़ता से बैठा लें ।

२०४—मैं अपनी निन्दा सुनकर कभी दुखी नहीं होऊंगा और स्तुति सुनकर प्रसन्न भी नहीं होऊंगा यह मैंने आज से दृढ़ निश्चय कर लिया है ।

२०५—मैंने कभी किया क्या काम ।

मैं तो परब्रह्म निष्काम ॥
 मैं हूँ अद्वितीय सर्वोच्च ।
 मेरा कहां बचा कर्तव्य ॥
 मैं हूँ ईश्वर सब का प्राण ।
 रह बस मस्त शांत दिन रैन ॥
 अपने को तू ईश्वर जान ।
 भ्रम को दूर तोड़कर डाल ॥
 छोड़ काम की चिन्ता मुक्त ।
 यह ले जान सत्य ज्ञातव्य ॥
 मैं हूँ उनका आश्रय स्थान ।
 स्वयं मैं ओंकार भगवान् ॥

आज न मेरे हृष को कोई सकता टोक ।

आज न मेरे मार्ग को कोई सकता रोक ॥

२०६—परिणाम की क्यों परवाह करते हो ।
 अपनी तनखाह के बारे में कभी फिक्र मत करो ।
 अज्ञानी लोग समझते हैं कि कार्य की सफलता में
 कार्य करने की अपेक्षा अधिक आनन्द है । अंधों को
 यह मालूम नहीं कि किसी परिणाम से उतना सुख
 नहीं मिलता जितना काम से मिलता है ।

२०७—अपने विचारों को सदा वास्तविक आत्मा
 में रखो और परिस्थितियों की परवाह मत करो ।

संसार को भला करने के विचार से परेशान मत हो ।

२०८—तब तक आपकी कोई हानि नहीं हो सकती, जब तक आप स्वयं उसे बुलायें नहीं । कोई तलवार तब तक नहीं काट सकती, जब तक आप यह न सोचें कि यह काटती है ।

२०९—ऐ पूर्ण ब्रह्म ! तेरे लिये कोई कर्त्तव्य या कार्य शेष नहीं है । सारी प्रकृति साँस रोके तेरी सेवा के लिये खड़ी है । संसार तेरी पूजा करने का अवसर पाकर अपने को सराह रहा है । क्या तू प्रकृति को शक्तियों को अपने चरणों में झुकने का अवसर देगा ।

२१०—अपने अन्दर सत्य के प्रकाश को सदा चमकता रखो । भय और प्रलोभन का शैतान तुम्हारे पास नहीं फटकेगा ।

२११—बाहर की बातों में कुछ भी

नहीं मान अपमान ।

अपना काम किये जा निशदिन, इसमें ही सम्मान ॥

२१२—राजा और राष्ट्रपति तुम्हारे सेवक हैं । तारों की तरह हंसते खुश होते हुये काम करो ।

२१३—जब तक गलती करने वाले के प्रति तेरे मन में कठोरता है तब तक तू साधु नहीं हुआ ।

२१४—जब दूसरे लोग तुम्हारी आलोचना,

निन्दा करते हों तब उन्हें रोकने की चेष्टा न करो ।
क्योंकि इन्हीं सब बातों के द्वारा तुममें सद्गुणों की
वृद्धि होगी ।

२१५—जब तक तुम्हारा हृदय इतना दृढ़ नहीं
है कि तुम मूर्खों के बकने पर स्थिर शान्त बने रहो,
अथवा तुममें इतनी सहनशीलता नहीं है, कि अज्ञानी
मूर्खों को क्षमा कर सको तब तक तुम अपने को कहीं
ज्ञानी न समझ लेना ।

२१६—न कोई मृत्यु है, न रोग, न शोक । पूर्ण
आनन्दमय इस प्रकार के जीवन पर नित्य ध्यान दो ।

२१७—अपनी आत्मा को सृष्टि को आत्मा
अनुभव करो ।

२१८—जो कुछ दिखाई देता है आप का ही भ्रम
और संकल्प है । किसी स्रष्टा को सृष्टि नहीं है ।
आप ही उसका प्रकट करने वाला और द्रष्टा है ।
जो कुछ मैं देखता हूँ वही मैं हूँ । जो कुछ मैं देखता
हूँ उस सब का मैं सम्राट हूँ ।

२१९—पेट को चिकने और भारी पदार्थों से भर
देने वाला, तीव्रबुद्धि विद्यार्थी भी अयोग्य और स्थूल
बुद्धि हो जाता है । इसके विपरीत हलके भोजन से
मस्तिष्क सदा स्वच्छ और हलका रहता है ।

२२०—सब कुछ एक ही है । प्रेम को द्वैत से कुछ मतलब नहीं ।

२२१—अपने आप में सब चीजों को और सब चीजों में अपने आप को देखना ही असली आँख वाला होना है ।

२२२—यदि सबसे अपनी एकता का तुम अनुभव कर लो तो तुम देखोगे कि तुम्हारा मस्तिष्क अनन्त शक्तिशाली हो जायगा ।

२२३—संसार मुझ में है, मैं संसार में नहीं आ सकता । विश्व मुझ में है । मैं विश्व में बंध नहीं सकता । सूर्य और नक्षत्र मुझ में उदय और अस्त होते हैं ।

२२४—ऐसी कौन सी विपत्ति है जो मेरी प्रसन्नता को नष्ट कर सकती है ? वह कौन सा रंज है जो मेरे आनन्द में विघ्न डाल सकता है । मैं तो विश्व ब्रह्माण्ड का प्रभु हूँ ।

२२५—मैं बुद्धि का प्रभु हूँ । दिमाग का मालिक हूँ, और मन का शासक हूँ ।

२२६—यदि तुम शरीर और मन से ऊपर उठ जाओ तो सब चिन्ता और भय से छूट जाते हो ।

२२७—किसी आकस्मिक दुर्घटना से धैर्य न छोड़ो

क्योंकि घबराहट से शक्ति तथा बुद्धि हर जाती है । किसी प्रकार की कठिनाइयों के आगे दुःखित न होकर गम्भीरता पूर्वक उनका सामना करो, तभी तुम निस्सन्देह विजय प्राप्त करोगे । तुम कहीं भी हतोत्साहित होकर निराश न होओ ।

२२८—अपने दृढ़ संकल्प की पूर्ति के लिए बार-बार असफल होकर भी पीछे न मुड़ो । निस्सन्देह तुम्हारी अन्त में विजय होगी ।

२२९—निन्दन्तु नोति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।

अद्यैव वा मरणमस्तु शतान्तरे वा,

न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।

(नीति में निपुण लोग चाहे प्रशंसा करें या निन्दा, लक्ष्मी चाहे अनुकूल हो या अपने मनमाने मार्ग पर जाय । मृत्यु चाहे आज आये या सैंकड़ों वर्षों के बाद, धैर्यवान कभी न्याय के पथ से विचलित नहीं होते ।)

२३०—बड़े से बड़े शत्रु के प्रति भी प्रिय और कल्याणकारी शब्दों को काम में लाओ ।

२३१—मेरा धर्म सिखाता है कि भय ही सबसे बड़ा पाप है ।

२३२—सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक

कल्याण की एक ही नींव है । और यह जानना है कि मैं और मेरा भाई एक है । यह सब देशों और सब जातियों के लिए सत्य है ।

२३३—वीर और निडर होओ और मार्ग साफ होगा । किसी चीज से न डरो साहसी होओ ।

२३४—यह संसार बालकों का खेल मात्र है । उससे मैं कैसे विचलित हो सकता हूं ।

२३५—एक आत्मा को ही जानो और सब वृथा शब्दों को त्यागो । ध्येय की उपलब्धि बिना रुको नहीं ।

२३६—अशुभ और शुभ एक ही पदार्थ हैं दो नहीं ।

२३७—न तो द्रष्टा हो सत्य है और न दृश्य । यह सब शब्दों का खेल मात्र है । शब्दों पर भगड़ने से क्या लाभ ? वास्तव में एक ही आत्मा है जो हम हैं, उसके सिवाय कुछ भी नहीं है ।

२३८—देह और दुनिया दोनों ईश्वर के भीतर हैं और वही ईश्वर मैं हूं ।

२३९—मनुष्यादि प्राणी स्वप्न या स्मृति आदि के समय जब कि अनुकूल प्रतीत होने वाला बाह्यार्थ नहीं होता जब भी सुखी होता है अथवा जबकि प्रतिकूल व्याघ्रादि सच्चा पदार्थ नहीं होता तब भी दुःखी हुआ करता है, इसके विपरीत समाधि सुषुप्ति तथा मूर्च्छा

के समय इन बाह्यार्थ पदार्थों के विद्यमान रहने पर भी सुखी या दुःखी नहीं होता । इससे सिद्ध होता है कि सुख दुःख के साथ बाह्य पदार्थों के अन्वय व्यतिरेक नहीं हैं । किन्तु सुख दुःख के साथ मानस पदार्थों के ही अन्वय व्यतिरेक हैं । जीव अपने मानस पदार्थों से ही सुखी या दुःखी है । केवल बाह्यार्थ से कोई सुखी दुःखी नहीं होता ।

२४०—वास्तव में अच्छा और बुरा दोनों एक ही हैं और हमारे मन पर अवलम्बित हैं ।

२४१—ईश्वर ही सब के भीतर है, यह जानकर ज्ञानी व्यक्ति निन्दा-स्तुति दोनों का परित्याग करता है ।

२४२—जब तक चित्त में इतनी दृढ़ता नहीं आ जाती कि शास्त्र विधियों का पालन छोड़ देने पर भी हृदय का यथार्थ भक्ति भाव नष्ट नहीं होता तब तक इनको मानते चलो ।

२४३—यह जगत तो छोटे बच्चों के खिलौने के समान है । हम जब उसे समझ लेंगे तो जगत में कुछ भी क्यों न हो वह हमें चंचल नहीं कर सकगा । शुभ और अशुभ सभी मेरे दास हैं ।

२४४—जगत को एक तस्वीर के समान देखो ।

जगत में मुझे कोई भी वस्तु विचलित नहीं कर सकती । यही समझकर जगत के सौन्दर्य का उपभोग करो ।

२४५—अच्छा बुरा दोनों को एक दृष्टि से देखो—दोनों ही भगवान के खेल हैं । इसलिये अच्छा बुरा सुख दुःख सभी में आनन्द का अनुभव करो ।

२४६—लोग तुम्हारी बुराई करें तो तुम उन्हें आशीर्वाद दो । सोचकर देखो कि वे तुम्हारा कितना उपकार करते हैं ।

२४७—शास्त्र तो सब हमारे ही भीतर हैं । धैर्य-हीन व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता ।

२४८—हम दूसरों के कार्यों की जो निन्दा करते हैं, वह वास्तव में हमारी ही निन्दा है ।

२४९—तुम अपने क्षुद्र ब्रह्माण्ड को ठीक करो जो तुम्हारे हाथ में है । वंसा होने पर बृहद ब्रह्माण्ड भी तुम्हारे लिये आप ही आप ठीक हो जायगा ।

२५०—हमारे भीतर जो नहीं है बाहर में भी हम उसे नहीं देख सकते ।

२५१—ब्रह्म दृष्टि को छोड़कर अन्य किसी भाव से किसी वस्तु को मत देखो । यदि ऐसा नहीं करोगे तो अन्याय और बुरा ही देखने में आयेगा ।

२५२—सबसे अधिक पाप है, अपने को दुर्बल समझना । तुम सबसे बड़े हो और कोई नहीं है ।

२५३—“खराब” शब्द वाच्य कुछ है यह स्वीकार मत करो ।

२५४—इन्द्रियज्ञान सम्पूर्ण भ्रान्ति है ।

२५५—मैं मुक्त हूं, मुक्त हूं, मुक्त हूं । मेरा कभी अनिष्ट नहीं हो सकता ।

२५६—जब हम कुछ भी बुराई नहीं देख पायेंगे तब हमारे लिये जगतप्रपंच भी नहीं रहेगा ।

२५७—चाहे कितना ही अच्छा काम क्यों न करो किन्तु उसमें कुछ न कुछ बुराई लगी रहेगी ।

२५८—सुनना, देखना, सूंघना और स्वाद लेना अस्वीकार कर दो तभी तुम योगी हो पाओगे ।

२५९—जब तक उस अन्तरवर्ती अन्तर्यामी गुरु का प्रकाश नहीं होता तब तक बाहर के सभी उपदेश व्यर्थ हैं ।

२६०—भुक्ति लाभ करने के लिये तुम्हारे पास जो कुछ शक्ति है सब लगा दो ।

२६१—कोई भी कार्य करने के समय ऐसा मत कहो कि यह मेरा कर्तव्य है वरन ऐसा कहो, यह मेरा स्वभाव है ।

२६२—शिशु संसार में कोई भी पाप नहीं देख पाता, क्योंकि बाहर के पापों का परिणाम निर्णायक कोई मापदण्ड उसके भीतर है ही नहीं । छोटे लड़कों के सामने डकैती होती है, परन्तु उनको उधर ध्यान ही नहीं रहता । उन्हें वह अन्याय रूप प्रतीत होती ही नहीं ।

२६३—दूसरे को पापो कहने से बढ़कर और कोई बुरा कार्य नहीं है । मनुष्य को भगवान समझकर उसके प्रति प्रेम रखने में कितना आनन्द है—एक बार स्वयं अनुभव करके देखिये ।

२६४—भूत या भविष्य में न कोई तुम्हारी अपेक्षा श्रेष्ठ ईश्वर था, न है, न होगा ।

२६५—जब तक तुम यह अनुभव नहीं करते कि मैं ही देवों का देव हूँ, तब तक मुक्त नहीं हो सकते ।

२६६—जो महापुरुष प्रचार कार्य के लिये अपना जीवन समर्पित कर देते हैं वे उन महापुरुषों की तुलना में असम्पूर्ण हैं जो निर्जन नीरव स्थान में महापवित्र जीवनयापन करते हैं ।

२६७—जो सत्य है, उसे साहस पूर्वक निर्भीक होकर लोगों से कह दो । इस सत्य प्रकाश के कारण

व्यक्ति विशेष को कष्ट हुआ या नहीं इस ओर ध्यान मत दो ।

२६८—अन्य सभी चिन्तायें छोड़कर सर्वान्तः-करण से ईश्वर की दिन रात उपासना करनी चाहिये । सुख दुःख, लाभ क्षति इन सबों को त्यागकर दिन रात ईश्वर की उपासना करो । एक क्षण भी व्यर्थ मत जाने दो ।

२६९—तुम अपने ऊपर अविश्वास कभी मत करो, तुम इस जगत में सब कुछ कर सकते हो । कभी भी अपने को दुर्बल मत समझो । सभी शक्तियां तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं ।

२७०—स्वप्न, स्वप्नद्रष्टा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । इसी तरह जाग्रत भी जाग्रत द्रष्टा के सिवाय कुछ नहीं है ।

२७१—जो मनुष्य इसी जन्म में मुक्ति प्राप्त करना चाहता है उसे एक ही जन्म में हजारों वर्षों का काम कर लेना पड़ेगा । उसे इस युग के भावों को अपेक्षा बहुत आगे जाना पड़ेगा ।

२७२—तुम यह अनुभव करना सीखो कि मैं ही सब शरीरों में वर्तमान हूं ।

२७३—यदि शरीर स्वस्थ न हो तो मन के साथ

संग्राम कैसे कर सकोगे ? शरीर को पहले सुसंगठित कर लो । फिर मन पर धीरे धीरे अधिकार प्राप्त होगा ।

२७४—जो लोग शरीर से दुर्बल हैं, वे आत्म-साक्षात्कार के अयोग्य हैं । मन पर एक बार अधिकार प्राप्त हो जाने पर देह सबल रहे या सूख जाय इससे कुछ नहीं होता । वास्तविक बात यह है शरीर के स्वस्थ न रहने पर कोई आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं बन सकता । शरीर में जरा भी त्रुटि रहने पर जीव सिद्ध नहीं बन सकता । जब मन सहित षट् इन्द्रियों का अभाव हो जाय तब केवल शान्ति को प्राप्त होता है ।

२७५—मलाई, तेल, घी, या चर्बी खाना ठीक नहीं है । पूरी से रोटी अच्छी होती है । मिठाई तो बिल्कुल ही नहीं खानी चाहिये । विशुद्ध वनस्पति पर ही अधिकतर अपना आधार रखना चाहिये ।

२७६—जो मनुष्य निरन्तर “मैं मुक्त हूँ” ऐसी भावना रखता है वह मुक्त ही है और “मैं बंधा हुआ हूँ ।” ऐसी भावना रखने वाला बंधा हुआ है ।

२७७—मन चाहे रहे या नष्ट हो जाय मुझ आत्मा को हानि क्या हुई ।

२७८—तुम निर्भय हो, निर्भय हो, निर्भय हो ।

भय ही मृत्यु, भय ही पाप, भय ही नरक, भय ही अधर्म और भय ही व्यभिचार । जगत में जितने असत्य या मिथ्या भाव हैं वे इस भय रूप शैतान में पैदा हुए हैं ।

२७६—जिस समय भय रहित होंगे उसी समय ब्रह्म में लीन हो जायेंगे । सृष्टि रूपी अध्यास का उसी क्षण लय हो जाएगा ।

२८०—मैं निर्लिप्त आत्मा हूँ । मेरा जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, मैं अजर अमर हूँ, मैं चिदानन्द आत्मा स्वरूप हूँ । एक बार ऐसे भाव में मन को लगा लगा तो दुःख और कष्ट के समय में अपने आप ही उपरोक्त भाव जाग्रत हो जायेंगे ।

२८१—दूसरे सब प्रयत्नों को छोड़कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि आत्मा का बिकास हो सके । आत्मा के बिकास के साथ बुद्धि भी प्रत्येक विषय में प्रवेश करने लगेगी । जीव मात्र ही पूर्ण आत्मा है ।

२८२—परहित के लिये थोड़ा सा काम करने से भी भीतर की शक्तियाँ जागृत होती हैं । दूसरे के कल्याण करने के विचार मात्र से हृदय में एक सिंह समान बल आ जाता है ।

२८३—अन्य साधारण जीवों के समान मैं भी काँचन और कामिनी में मुग्ध बना रहूँ तो इसमें मेरा

वीरत्व ही क्या है ।

२८४—मेरे ऐसा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव वाला क्या कभी कोई अन्याय का कार्य अपने हाथ से कर सकता है ।

२८५—मैं आत्मज्ञान अवश्य प्राप्त करूंगा । मार्ग में चाहे जितने विघ्न पड़ें उनको दूर करूंगा, विपत्तियों का सामना करूंगा, और उन्हें पराजित करूंगा ऐसा दृढ़ संकल्प ही पुरुषार्थ है । यह देह रहे या न रहे इसकी कुछ परवाह नहीं, जब तक आत्म दर्शन न होगा, मैं अपनी पीठ कभी नहीं मोड़ूंगा । पीछे पैर कभी नहीं हटाऊंगा । इसी प्रकार अपने आत्मा को जागृत कर और छाती ठोककर कह कि मैं अभय पद प्राप्त कर चुका हूं, अब मुझे भय चिन्ता कुछ भी नहीं है ।

२८६—आप पर आपत्ति, दुःख और चिन्तायें इसलिये आती हैं कि भीतर के आत्मा को अनुभव करें । इनका काम आपको यही सुझाने का है कि आप हृदयस्थ सूर्यों के सूर्य, प्रकाशों के प्रकाश का अनुभव करें ।

२८७—अपने आपको ब्रह्म समझो । अपने ब्रह्म होने में ज्वलन्त विश्वास रखो । और तब कोई भी

वस्तु और कोई भी व्यक्ति तुम्हें हानि नहीं पहुंचा सकता ।

२८८—अगर हम निर्भय हैं तो शेरों को भी जीत कर पालतू बना सकते हैं । अगर हम डरेंगे तो कुत्ते भी हमें फाड़ डालेंगे ।

२८९—किसी भी चीज से विचलित न होओ न उसकी आकस्मिकता से डरो । तुम “सब कुछ हो ।” शरीर में आसक्ति पैदा करने वाले भय को भगा दो ।

२९०—किसी भी खराब से खराब परिस्थिति को ज्यादा वास्तविक मत समझो । ऐसी कौन सी परिस्थिति है जिसे तुम हटा नहीं सकते अथवा फूंक मारकर उड़ा नहीं सकते ? तुम निर्भय हो, निर्भय हो, निर्भय हो, ऐसा दृढ़ निश्चय रखो ।

२९१—क्या तुम इस ब्रह्माण्ड के स्वामी नहीं हो ? ऐसी कौन-सी परिस्थितियां हैं जिन्हें तुम हटा नहीं सकते ?

२९२—प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक व्यवहार, प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक प्राणी ब्रह्मस्वरूप दीखे यही सहज समाधि है ।

२९३—अनन्त देश, अनन्त काल, अनन्त शक्ति, अनन्त बल, अनन्त सामर्थ्य, अनन्त पराक्रम तुम हो,

ऐसा दृढ़ निश्चय रखो ।

२६४—किसी से मत डरो, किसी से कोई आशा न करो, अपना कोई उत्तरदायित्व न समझो । डरो मत, तुम मुक्त हो ।

२६५—ज्ञानकर या अनजान में जो कोई रात दिन यह सोचा करता है कि “मैं नित्य हूं, मैं शुद्ध हूं, बुद्ध हूँ, मैं मुक्तात्मा हूँ” वह समय पाकर अवश्य ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है ।

२६६—वस्तुतः बाहर तो कुछ भी नहीं है जो कुछ है सो अन्दर मनः कल्पित संसार हैं ।

२६७—निर्भय बनो, कोई भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा । सारी शक्ति निर्भयता से पैदा होती है ।

२६८—समाधि में जन्मत शब्दमय है यह बात सबसे पहले समझ में आती हैं । उसके बाद गम्भीर ओंकार की ध्वनि में समा जाता है । उसके बाद वह ध्वनि भी नहीं सुनाई पड़ती । ध्वनि है या नहीं इसकी खबर नहीं रहती । इसे अनाहद नाद कहते हैं । अन्त में मन ब्रह्म में लीन हो जाता है । और चारों तरफ शान्ति फैल जाती है । मन जब ब्रह्म में लीन होने वाला स्वभाव का होता है तभी वह क्रमशः एक के

बाद एक विविध अवस्थाओं में होकर पार करता हुआ अन्त में निर्विकल्प पहुँचता है ।

२६६—मैं मिथ्या, तू मिथ्या, धर्म मिथ्या और कर्म मिथ्या और जगत मिथ्या है और ऐसा प्रतीत होता है कि मैं ही सर्वस्व हूँ । मैं ही सर्वज्ञ-सर्वगत आत्मा हूँ, अपना साक्षी, अपना प्रमाण मैं स्वयं ही हूँ ।

३००—भक्ति मार्ग शिथिल कर्म है । इससे फल प्राप्ति में थोड़ा विलम्ब होता है । किन्तु यह है सहज और साध्य ।

३०१—योग में अनेक विघ्न हैं । योग साधते समय मन यदि विभूति के मार्ग में लुब्ध हो गया तो पुनः स्वरूप पहुँचने पर बड़ी देर लगती है । एक मात्र ज्ञान मार्ग ही बहुत शीघ्र फल देने वाला तथा मतों के अनुकूल होने वाला मार्ग है । उसमें भी विचार मार्ग में चलते समय कई बार मन दुस्तर (कष्ट पूर्वक जो पार किया जा सके) तर्क जालों में फँस जाता है, इसलिये विचार के साथ ध्यान भी रखना पड़ता है ।

३०२—हृदय में सिंह के समान बल धारण कर । भय ही मृत्यु, भय ही महापातक है इसलिये बिल्कुल निर्भय हो जाओ फिर कोई भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा ।

३०३—लोग अच्छा कहें या बुरा, किन्तु एक उच्च आदर्श को सर्वदा आंख के सामने रखकर सिंह के समान कार्य करते जाओ ।

३०४—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों का अधिष्ठान में अत्यन्त अभाव है या ऐसे तीनों भ्रान्ति रूप हैं । ये तीन काल में भी नहीं है ।

३०५—काम कांचनादि में जब वैराग्य उत्पन्न हो तभी गुरु कृपा प्राप्त हुई समझना चाहिये ।

३०६—गुरु कृपा प्राप्त हुई है कि नहीं, यह यदि देखना हो तो इसकी केवल एक परीक्षा है, वह यह कि काम कांचनादि की आसक्ति जितनी दूर हो उतने ही अंशों में गुरुदेव की कृपा उसके ऊपर हुई समझना चाहिये ।

३०७—जिसको क्रोध रूपी अग्नि नहीं जलाती जिसको मृत्यु भी नहीं मारती ।

३०८—नाना रूप भासता है तो भी द्वैत कुछ नहीं सदा अनुभव रूप है, अद्वैत रूप है । विभाग कल्पना तिस विषे कुछ नहीं ।

३०९—प्रत्येक पदार्थ को परमात्मा निश्चय करना चाहिये । प्रत्येक पदार्थ परमात्मा ही है ।

३१०—साकार भूठा है, निराकार सत्य है ।

सारा जगत निराकार है विकारहीन है । सब जगत को एक शिव रूप समझो ।

३११—भ्रान्ति ज्ञान बाहर स्थित है, सत्य ज्ञान बीच में है । उसके भी मध्य में नारियल के जल के समान ब्रह्म चैतन्य है ।

३१२—जिसने सत्य का आश्रय लिया है, उसको किसी भी बात में भूल हो जाने पर वह आप से आप सुधर जायगी ।

३१३—किसी के कार्यों में समालोचना मत करो, ऐसा करना भगवान के ही दोष गुण बतलाना है ।

३१४—तभी हम चरितार्थ हो सकते हैं जब हम आपको छोड़कर दूसरों को नहीं देखें ।

३१५—तू देख अपने आपको न देख और कोई को जो देखोगे और को तो दुःख बड़ा पाओगे ।
तेरो ही है रूप सब भयो है अनेक रूप
जानकर ऐसो फिर पीछे नहीं पछताओगे ।
माया सब भुट्टी, भुट्टी सब जगराशि
जानोगे ऐसे तो मोहित न होओगे ।

आपही में देख आप आपही में रम्यो आप
आप ही में आप खेल आप ही रह जाओगे

३१६—आकाश आदि यह सर्व जगत मृगतृष्णावत्

हैं । याने मिथ्या है । यह पंच भूतात्मक विश्व अर्थात् पाँच तत्वों से उत्पन्न जगत मरीचि जल के समान है ।

३१७—यह जगत सब आत्ममय है भेद अभेद इसमें कुछ नहीं है ।

३१८—मेरे मानसिक शुभाशुभ कर्म कोई नहीं हैं । न शारीरिक शुभाशुभ कर्म मेरे हैं, और वाचिक शुभाशुभ कर्म मेरे नहीं हैं । मैं स्वभाव से ही निराकार सर्वव्यापी आत्मा हूँ । मैं ही अविनाशी अनन्त शुद्ध और विज्ञान स्वरूप हूँ । मैं सुख दुःख नहीं जानता हूँ कि किसको होता है ।

३१९—जैसे स्वप्न विषे एक ही जीव अनेकता को प्राप्त होता है तैसे ही जाग्रत में भी एक ही अनेक होकर प्रतीत हो रहा है ।

३२०—जैसे सुषुप्ति से स्वप्न भासता है तैसे ही अद्वैत तत्व आत्म विषे जगत भ्रम होता है । जैसे स्वर्ण विषे भूषण फूरते हैं, जैसे समुद्र विषे तरंग फूरते हैं तैसे ही आत्मा विषे चतुर्दस प्रकार के भूत नात फूरते हैं ।

३२१—श्रुति की दृष्टि में तो कुछ भूत या भौतिक पदार्थ उत्पन्न ही नहीं हुआ ।

३२२—अतः संसार की असलियत परमात्मा

स्वरूप में अन्तःकरण के विचार से दृष्टि में सृष्टि है, बाह्य में सृष्टि नहीं है। क्योंकि जब अन्तःकरण जाग्रत में आता है सृष्टि दिखती है। सुषुप्ति में नहीं दिखती है।

३२३—द्वैत तो है ही नहीं, ऐसा समझ बिन खेद है। संसार तो है ही नहीं ऐसा समझ बिन खेद है। सुख दुःख तो है ही नहीं, ऐसा समझ बिन खेद है। भय शोक तो है ही नहीं ऐसा समझ बिन खेद है। शब्दादि तो हैं ही नहीं ऐसा समझ बिन खेद है।

३२४—विशाल ब्रह्माण्ड मैं स्वयं हूँ। मेरी ही आत्मा चराचर की आत्मा है।

३२५—महिलाओं और सज्जनों के रूप में मेरे आत्मन् ! समग्र संसार, विशाल विश्व ही मेरा वास्तविक आत्मा है। मैं तुम हूँ, तुम मैं हूँ। मैं अनन्त एक हूँ न कि यह शरीर।

३२६—यह सब शरीर विभिन्न दर्पणों के तुल्य है। और हमारी सच्ची आत्मा या निज स्वरूप का सब ओर ठीक वैसे ही प्रतिबिम्ब पड़ता है जैसे कि कुत्ता अपना प्रतिबिम्ब चारों ओर दिवालों में देख रहा था। इसी तरह एक

अनन्त आत्मा विभिन्न दर्पणों में अपना प्रतिबिम्ब डालती है । मूर्ख लोग कुत्ते की तरह इस संसार में आते और कहते हैं कि वह मनुष्य मुझे खा लेगा, अमुक मेरे टुकड़े कर डालेगा । ओह ! इस संसार में ईर्ष्या भय कितना है !

३२७—चिन्तन करना ही दुःख है, चिन्तन से रहित होना ही सुख है ।

३२८—जो कुछ इन्द्रियों के द्वारा प्रतीत हो रहा है वह असत् है ।

३२९—महिलाओं और भद्र पुरुषों के रूप में नित्य स्वरूप । भद्र पुरुषों और महिलाओं के रूप में सर्व-शक्तिमान जगदीश्वर ।

३३०—जब तुम श्रेष्ठ शुभ करो तब अश्रेष्ठ अशुभ कर्म करने से घृणा द्वेष न करो । किसी से घृणा द्वेष करने का अधिकार तुमको नहीं ।

३३१—धीरवान वीर पुरुष किसी शुभ ध्येय को पूर्ण किये बिना बीच में नहीं छोड़ते ।

३३२—संसार मुझ में है मैं संसार में नहीं आ सकता । यूनान और रूम मुझ में हैं । सूर्य और नक्षत्र मुझमें उदय और अस्त होते हैं ।

३३३—जैसे स्वप्न विषे सब क्रिया होती है, सो

भ्रम मात्र है । तैसे ही जागृत में सब क्रिया भ्रम मात्र है ।

३३४—सब लोगों का महान ईश्वर मैं ही हूं ।

३३५—सारे पदार्थ बुद्धि से भिन्न नहीं हैं । किन्तु सब पदार्थों के आकार को बुद्धि ही धारे है ।

३३६—निर्बलता के अतिरिक्त संसार में कोई पाप नहीं है ।

३३७—जिस निर्भयता से बिना किसी भिन्नक के तुम वृक्षों और नदियों की ओर देखते हो, ठीक उसी उत्साह से प्रत्येक व्यक्ति को ओर देखो ।

३३८—यह दृश्य हम पर कुछ प्रभाव नहीं डाल सकता । क्योंकि मिथ्या है ।

३३९—संसार भर के पैगम्बर और सिद्ध महात्मा जो तुम्हारे आत्मज्ञान के नायक हैं सबके सब तुम्हीं में लीन हो जायेंगे ज्योंही तुम अपनी सच्ची आत्मा सच्चिदानन्द में जाग उठोगे ।

३४०—यह सारा विश्व मस्तिष्क के संकल्प मात्र हैं ।

३४१—मनुष्यों की आकृतियों, उपाधियों का, धन, विद्या और रूपों का सम्मान करना पाषाण पूजा है ।

३४२—अपने पूर्ण अन्तःकरण से कहो अहं ब्रह्मास्मि

(मैं ही ईश्वर हूँ) ।

३४३—तुम स्वयं विरोधियों को अपने चारों ओर खड़ा कर लेते हो, वे तुम्हें नहीं घेर सकते ।

३४४—अपने आपको नित्य शान्त और प्रसन्न रखना अपना उद्योग, धन्धा, व्यापार, पेशा, वृत्ति, जीवन का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य बना । इस संसार में आपका परम पावन कर्त्तव्य यही है जो आप पर ईश्वर ने डाला हुआ है । अपने आपको प्रसन्न रखना है । इसके सिवाय अन्य किसी बात की परवाह मत करो ।

३४५—यह संसार तुम्हारा बनाया हुआ है । बस संसार के इस भूत को अपने ऊपर सवार मत होने दो । सारा विश्व इस अकेले सिर में समाया हुआ है ।

३४६—नित्य हंसमुख रहो, मुख को कभी भलिन न करो, यह निश्चय कर लो कि शोक ने तुम्हारे लिए जगत में जन्म ही नहीं लिया है । आनन्द स्वरूप में सिवा हंसने के चिन्ता को स्थान कहाँ है ।

३४७—किसी के दोष को देखकर उससे घृणा न करो और न उसका बुरा चाहो । दूसरे के पापों को प्रकाश करने के बदले सुदृढ़ बनकर ढको ।

३४८—यह विश्व केवल आकाश रूप है । हम

सब एक आनन्द ही हैं ऐसा निश्चय कर लेने से आनन्द ही आनन्द हो जाएगा

३४६—मैं सर्वशक्तिमान परमेश्वर हूँ, विव (ब्रह्माण्ड) का शासक हूँ, प्रभुओं का प्रभु हूँ, देवों का देव हूँ, और संसार के भूतों का अध्यक्ष और अधिष्ठाता हूँ। ऐसा निश्चय करो फिर तुम्हें कोई हानि या क्षति नहीं पहुँचा सकेगा।

३५०—मैं निस्सन्देह निराकार प्रभु हूँ। मैं ओम हूँ, ओम हूँ, ओम हूँ। मेरे आनन्द को कोई वस्तु बिगाड़ नहीं सकती। मेरे मार्ग में कोई बाधा नहीं हो सकती। ईश्वर, देवता, मनुष्य और पक्षी मेरे चपरास पहने हुए हैं। (गुलाम हैं)

३५१—बाहरी पदार्थों की अपेक्षा सत्य पर अधिक विश्वास रखो। अपनी इन्द्रियों के बहकावे में मत आओ।

३५२—सारा ब्रह्माण्ड एक शरीर है। सारा संसार एक शरीर है। जब तक आप हरएक से अपनी एकता भान वा अनुभव करते रहेंगे तब तक सभी परिस्थितियाँ और आस-पास की चीजें हवा और लहरें तक आपके पक्ष में रहेंगी।

३५३—अपने को ईश्वर का निर्भीक और स्वाव-

लम्बी अवतार क्यों नहीं समझते ?

३५४—अपने परिश्रमों के पुरस्कार के लिए चिन्ता न करो । भविष्य की परवाह मत करो । संशयों को त्याग दो । सफलता असफलता का विचार न करो ।

३५५—अपने ईश्वरत्व में सजीव विश्वास रखो, फिर कोई तुम्हारी हानि न कर सकेगा कोई भी तुम्हें क्षति न पहुंचा सकेगा ।

३५६—वेदान्त के अनुसार सम्पूर्ण संसार ईश्वर से इतर और कुछ नहीं है । समग्र संसार परिपूर्ण है, समग्र संसार ब्रह्म है, मेरा ही अपना आप है, समग्र संसार अकेला है ।

३५७—मैं तुम हूं, और तुम और हम एक ही हैं । इसमें कोई भेद नहीं है ।

३५८—जिस क्षण तुम ईश्वर भाव से परिपूर्ण हो जाओगे, उसी क्षण अनायास सदा के लिए जीवन शक्ति और उत्साह की धारा बहने लगेगी । सत्य को फैलाने का यही उपाय है ।

३५९—यदि कोई मनुष्य तुम्हारी कोई चीज चुरा लेता है तो डरते क्यों हो ? वह मनुष्य और तुम एक हो और जो वस्तु वह चुराता है वह तुम्हारी और उसकी दोनों की है ।

३६०—जैसे स्वप्न का विश्व स्वप्न वाले का रूप हैं, निद्रा दोष करके नहीं जानता । जब जानता है तब जानता है कि मैं ही था दूसरा कुछ नहीं था । तैसे यह प्रपंच सब तेरा ही स्वरूप है ।

३६१—किसी भी भय तथा आतंक के आगे सम स्थिर बुद्धिध द्वारा निशंक रहो और संतुष्ट, मृत्यु के लिए सदा अभय रहो और आत्मस्थ ।

३६२—जो अपने से अतिरिक्त न कुछ देखता है, न सुनता है और न कुछ जानता है, वह अनन्त है । क्योंकि जब तक अपने सिवाय कोई दूसरी वस्तु भान होती है, तब तक आप सीमाबद्ध और शांत हैं ।

३६३—तुम्हें इन्द्रियों से अथवा व्यक्तित्व से कोई भी वास्ता नहीं है, तो तुम अनन्त वस्तु हो जाते हो ।

३६४—किसी वस्तु को पाने का रास्ता यही है कि उससे मुंह मोड़ लो ।

३६५—विचार ऐसा करो मुझे इससे या उससे कोई प्रयोजन नहीं है, किसी जिम्मेदारी या भय से मेरा कोई सरोकार नहीं है । मैं किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं हूँ । मुझे किसी का कुछ देना नहीं है । मैं आप ही स्वयं हूँ, मैं प्रकाश हूँ, मैं आनन्द हूँ ।

३६६—संसार मुझे क्या आनन्द दे सकता है ।

सम्पूर्ण आनन्द मेरे भीतर से आता है । मैं ही सम्पूर्ण आनन्द हूँ, सम्पूर्ण महिमा और सम्पूर्ण सुख हूँ ।

३६७—अपने को ईश्वर समझो और फिर कोई रोग नहीं है ।

३६८—सचमुच, सचमुच अपने ऊपर निर्भर करो और तुम सब कुछ प्राप्त कर सकते हो । तुम्हारे सामने असम्भव कुछ भी नहीं है ।

३६९—प्रेम का अर्थ है अपने पड़ोसियों और सभी संसर्ग में आने वालों से असली तौर पर अपनी एकता और अभेदता का अनुभव करना ।

३७०—अपने समीप की सब चीजों से बिना भय-खाये स्थिर रहो ।

३७१—दिखाई पड़ने वाली वस्तुओं से बिना भय-भीत हुए निश्चल रहो ।

३७२—कभी किसी के दोष मत देखो ।

३७३—निन्दा करने वालों की निन्दा से मैं क्यों मुरझाऊँ ? प्रशंसा करने वालों की प्रशंसा से कैसे फूलूँ ? मैं यह मानता हूँ कि निन्दा से मैं घटता नहीं और प्रशंसा से मैं बढ़ता नहीं । जैसा हूँ वैसा ही हूँ । फिर उसे कोई खटका रहे ही नहीं ।

३७४—जो मनुष्य सारे संसार के सामने तथा

अपने इर्द-गिर्द अन्य सब लोगों के सामने निडर खड़ा होकर अपने ईश्वरत्व का निरूपण कर सकता है और ईश्वर से अभेदता पहचान सकता है, वह इन सब लोगों की अवज्ञा करने को समर्थ है ।

३७५—ये भौतिक तत्व इन्द्रियों की भ्रान्ति के सिवाय और कुछ नहीं है ।

३७६—किसी भी अवस्था में मन को व्यथित होने मत दो । आत्मा पर विश्वास कर उसी पर निर्भर हो जाओ । फिर निर्भयता तो तुम्हारी दासी बन जायगी ।

३७७—सिसक चीख मत रो न कभी तू,
कर अविघ्न आराम सदा तू ।

दूर फेंक सब भय बाधायें,
गुण गंधर्व सभी तब गावें ।

शत्रु मित्र शंका नहीं कोई,
अमर न छू सकता है कोई ।

सूर्य चन्द्र गेंद क्रीड़ा की,
घर महारावे इन्द्र धनुष की ।

यह अपार संसार पसारा,
है कौतुक मय स्वप्न तिहारा ।

यह सब तेरे भीतर ही है,

यद्यपि दिखत बाहर ही है ।

३७८—यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म से भिन्न नहीं है, सबका सब ब्रह्म ही है ।

३७९—यदि सांसारिक सफलता मुझे प्राप्त भी हो तो मैं उसे कभी न भोगूंगा । ब्रह्म ही मेरा सब तरह का आनन्द है ।

३८०—माता के लिये अपने सभी बच्चे अयाने और सयाने प्यारे होते हैं । सच्ची शिक्षा का अर्थ है विश्व को परमेश्वर के नेत्रों से देखने का अभ्यास करना ।

३८१—जब हम सर्व से अभेद होते हैं, तब धोखे-बाज हमारे पास आने का साहस नहीं करते ।

३८२—जो अपने पड़ोसियों के अपराधों पर किसी रूप से बिगड़ते और परेशान होते हैं वे अज्ञानी हैं ।

३८३—अपनी वर्तमान अवस्था को, वह चाहे जैसी ही उसी को महिमान्वित करने से, अपनी सब वर्तमान स्थिति को सर्वोच्च मानने से ही तुम्हारे हृदय में आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान अनायास उदय होने लगेगा । आत्म साक्षात्कार के पीछे दौड़ने से जैसे वह कहीं दूर की चीज हो आत्मज्ञान नहीं होता ।

३८४—मेरी ही आत्मा सब को आत्मा है ।

३८५—अरे चोर, अरे निन्दक, अरे डाकू ! आओ, स्वागत, शीघ्र आओ, अरे तुम्हें कोई भय नहीं । मेरा अपना आप आत्मा तेरा है, तेरा मेरा है ।

३८६—चोरों और चोरी का डर दूर फेंक, उठ जाग, उठ देख तू क्या है ।

३८७—मुझे कभी कोई हानि नहीं पहुंच सकता । केवल मेरा ख्याल ही मेरे पीछे पड़ा है ।

३८८—निर्भयता से प्रसन्न चित्त होकर सत्य के सागर में प्रवेश करो । डरते और घबड़ाते क्यों हो ।

३८९—मैं तो महिलाओं और सज्जनों के रूप में अपने आपसे कहता हूं । अपने आपसे बोलता हूं । अपने आप को ही देखता, सुनता और समझता हूं । अपने से भिन्न कुछ भी नहीं है ।

३९०—मैं केवल दृश्य मात्र का साक्षी हूँ । कदापि उन नाम रूपों में फंसा नहीं हूँ । सदा उनसे ऊपर हूँ ।

३९१—जैसे स्वप्न में सारा स्वप्न का संसार अपने से बाहर दिखता है पर सचमुच यह सब तमाशे हमारे भीतर होते हैं । इसी तरह सारा भौतिक और मानसिक जगत (स्वप्न और जाग्रत जगत) हमारे अन्दर में अवस्थित है । पर दिखता बाहर है । यही हमारो भ्रान्ति है ।

३६२—सफल वे ही होते हैं जो सदैव नत मस्तक और हंसमुख रहते हैं । शोकातुर लोगों की उन्नति नहीं हो सकती । प्रत्येक काम को हिम्मत और शान्ति के साथ करो । यही सफलता का साधन है ।

३६३—दुःखों का ख्याल करने वाला दुःख और कष्ट अपने ऊपर लाता है और सबका शुभचिन्तक स्वयं सब हो जाता है ।

३६४—अगर सूर्य मेरी दायीं और चाँद मेरी बाईं ओर आकर धमकाने लगे कि पीछे हट जाओ, तब भी मैं पीछे नहीं हटूंगा ।

३६५—जाके मन में अटक है,
 बाको अटक यहां ।
 जाके मन में अटक ना,
 वाको अटक कहां ॥
 किंचित मात्र द्वैत नहीं हुआ,
 ना कोई जन्मा ना कोई मरा ।
 न मैं हूं, न तू है, न है यह पसारा,
 यही ब्रह्म विद्या यही ज्ञान सारा ॥
 ना ही मैं हूं ना ही जगत है,
 नभ सम शून्य सभी है ।
 एक आत्मा सर्वत्र पूर्ण है,

कुछ भी अन्य नहीं है ॥

३६६—मुझे अपनी चित्रकारियों (संसार) को विभिन्न दृष्टियों से देखने में ही मजा आता है । यहां एक स्थल में, मैं अनुदार को भाँति देखता हूँ, और वहां दूसरे स्थल से एक उदार को भाँति उनका अवलोकन करता हूँ । पूरन की दशा में मैं अपनी दायीं ओर से इन्हें देखता हूँ । और एक आलोचक के रूप में मैं ही बायीं ओर से इनका निरीक्षण करता हूँ । ये सारे रूप और भाँकियां मेरी ही तो हैं । सभी दृष्टियाँ मेरी अपनी हैं ।

३६७—देखने में मैं यद्यपि एक हो नहीं सकते फिर भी मैं एक हूँ ।

३६८—क्यों नहीं ईश्वर की नाई प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक तारा और वृक्ष पर अपना स्वत्व स्थापित करते ? यही वेदान्त है ।

३६९—विद्वानों, दार्शनिकों और आचार्यों की धमकियां और अनुग्रह, आलोचनायें और सम्मतियाँ ब्रह्मज्ञानो पर कुछ प्रभाव नहीं डालतीं ।

४००—प्रसन्नता के साथ तारागण अपना चमकने का कार्य कर रहे हैं । क्योंकि वे अपने आप में निर्द्वन्द्व रहते हैं और अपने से भिन्न किसी जीव के समस्त

चिन्ता रूपी ज्वर को देखकर क्षीण नहीं होते हैं ।

४०१—सत्य ही भलाई है । सत्य का अनुसरण करना ही भलाई है । सत्य तुम्हें दृढ़ बनाता है, सत्य तुम्हें स्वतन्त्र बनाता है । जैसे बच्चे हम लोगों को देखते हुए भी किसी व्यक्तित्व का आरोप नहीं करते, जैसे मानो किसी गैर को न देखकर अपने आपको देख रहे हों, वैसे ही हमें देखना चाहिये ।

४०२—सफलता की खोज बन्द कर दो । जब ऐसा करोगे, सफलता तुम्हें अवश्य खोजती फिरेगी ।

४०३—कुछ नहीं चाहते हुए सदैव काम से जुटे रहना, चिन्ता न रखते हुए भी सदैव कार्य परायण रहना ।

४०४—वेदान्त में सदैव कर्म का अर्थ होता है वास्तविक आत्मा के साथ एक होकर हरकत करना, और अखिल विश्व के साथ एक स्वर हो जाना । उस परम अद्वितीय तत्त्व के साथ निस्वार्थ संयोग प्राप्त करना ही एक मात्र सच्चा कर्म है ।

४०५—चिन्ता, भय, शोक, व्यग्रता और व्यथा को दूर फेंक दो । उधर कतई ध्यान न दो ।

४०६—हे व्यष्टिरूप अनन्त ! तुम अपने पैरों पर खड़े होने का साहस करो, तुम समस्त विश्व का भार

उठा लोगे ।

४०७—सब कुछ मेरे भीतर है बाहर कुछ भी नहीं है ।

४०८—मुझे नितान्त स्मरण नहीं कि मैं कभी पैदा हुआ था निस्सन्देह मैं कभी पैदा नहीं हुआ था, और संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो मुझे निश्चय करा सके कि मैं कभी मर सकता हूँ ।

४०९—वास्तविक शिक्षा तो उस समय प्रारम्भ होती है, जब मनुष्य सभी प्रकार की बाह्य सहायताओं से मुंह मोड़कर अपने अन्तर के अनन्त स्रोत की ओर अग्रसर होता है ।

४१०—जो समग्र संसार के साथ अपने को अभिन्न अनुभव करता है, समग्र संसार उसके साथ काम करने के लिये बाध्य है ।

४११—जितने भी चराचर पदार्थ हैं, वे सब मिथ्या (अवस्तु मात्र) हैं । धिक्कार है उसे जो दिखावटी रूपों पर सत्य को न्योछावर कर देता है ।

४१२—मैं सत्य हूँ, मैं देह की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिये आत्मघात करने को कदापि तैयार नहीं हो सकता ।

४१३—या तो तुम जगत के प्रभु बनो, नहीं तो जगतो तुम्हारे ऊपर प्रभुत्व जमा लेगा ।

४१४—हरगिज मत सोचो कि तुम कभी भी नीचे घसीटे आओगे अथवा कभी नीचे ढकेल दिये जाओगे ।

४१५—कभी किसी वस्तु को या व्यक्ति को तुच्छ न समझना चाहिये ।

४१६—तुम्हारे सामने एक पापी, एक दुरात्मा खड़ा हुआ है । पर तुम उसके प्रति अपने चित्त में किसी प्रकार के द्वेष, घृणा अथवा शत्रुता के भावों को स्थान मत दो । उसके पास ऐसे पहुँचो जैसे उसके गर्भ में अनन्त शक्ति का भण्डार भरा हो ।

४१७—जो कोई तुम्हारे पास आवे, उसे परमेश्वर वत् ग्रहण करो । पर साथ ही साथ अपने को भी तुच्छ मत समझो ।

४१८—पेट में अधिक ठूसना, अनुचित भोजन का व्यवहार सारे पापों की जड़ है । अतः अपने भोजन के सम्बन्ध में सदा सावधान रहो और तुम अपने रोग को अच्छा कर लोगे ।

४१९—त्याग से सदैव आनन्द मिलता है । जब तक तुम्हारे पास एक भी चीज शेष है तब तक तुम चीज के बन्धन में बंधे ही रहोगे । घात प्रतिघात सदैव बराबर विरोधी होते हैं ।

४२०—यह सारा संसार तुम्हारे ही विचार की

सृष्टि है । यह बात इतनी सच्ची है जैसे दो और दो चार । यह बड़े साहस की घोषणा है किन्तु है अक्षरशः सत्य ।

४२१—जब अभ्यास को न त्यागेगा तब अवश्य तरेगा । ये भासमान पदार्थ सभी एक ही प्रकार के हैं ।

४२२—जीव भी अपने स्वप्न सृष्टि का बिराट है । परन्तु उसको प्रमाद करके भासता नहीं ।

४२३—अतः इन बाह्य दुःखों और चिन्ताओं को आनन्द से आने दो । ऐसे अड़ोस पड़ोस में ही वेदान्त को व्यवहार में लाओ ।

४२४—अद्वैत अवस्था में देखने, सुनने, समझने की कोई चीज ही नहीं रहती, सब कुछ आत्मा ही हो जाता है ।

४२५—त्याग का अर्थ वैराग्य वानप्रस्थपना नहीं है । त्याग का अर्थ प्रत्येक वस्तु को पवित्र बनाना है । बल्कि उसे ईश्वर समझना है । प्रत्येक वस्तु में परमात्मा दर्शन करना ही वेदान्त के अनुसार त्याग है ।

४२६—एक मैं ही मैं हूँ यह जो ज्ञान है, द्वैत नहीं फिर सोच का क्या काम है ।

४२७—भय शोक, चिन्ता मुझ में कभी हो ही नहीं सकती । क्या मैं मुक्त नहीं हूँ ।

४२८—मैं देवों का परम देव हूँ, प्रकाशों का प्रकाश हूँ और क्या प्रतिक्षण मैं कीटियों पशु पक्षियों का नाश नहीं कर रहा हूँ ? मैं परमेश्वर सदा यह काम कर रहा हूँ । फिर भी मैं सदा निर्लिप्त और निर्मल हूँ ।

४२९—आपका वर्तमान अड़ोस-पड़ोस आप ही की रचना है ।

४३०—बिना इस जीवन में मृत्यु लाभ के तुम सुख भोगी और ईश्वर प्रेरणा में नहीं हो सकते ।

४३१—जब आप कोई काम करके लोगों की समालोचनायें और अपने अनुकूल आलोचनायें तथा लोगों की तारीफें व लोगों की खुशामदे अंगीकार करते हैं तब आपकी शक्ति तुरन्त जाती रहती है । वह तुरन्त निकल जाती है ।

४३२—यदि प्रार्थना का अर्थ इच्छा करना, कामना करना, अभिलाषा करना, मांगना और याचना करना माना जाय तो क्या ऐसी प्रार्थनायें सुनी जाती हैं ? यह कथन गलत है । ऐसी प्रार्थनायें कभी नहीं सुनी जाती । कोई चीज मांगने से कभी नहीं मिलती ।

४३३—जिस क्षण हम संसार के सुधारक बनकर खड़े होते हैं, उसी क्षण हम संसार के बिगाड़ने वाले बन जाते हैं ।

४३४—जब तुम आत्मा से विमुख होगे सब पदार्थ तुम्हें छोड़ जायेंगे । जब तुमने अपने अन्तरात्मा का दृढ़ निश्चय से आश्रय कर लिया तब सारा संसार कुत्ते के समान तुम्हारे पैर चाटने की इच्छा करेगा । संसार के पीछे मत दौड़ो ।

४३५—यदि आप अपना यह विश्वास बना सकते हैं कि “आप सदैव से मुक्त हैं” तो आप विश्व ब्रह्माण्ड के उद्धारक हो जाते हैं । यदि आप यह निश्चय करें कि “आप शरीर कभी नहीं थे”, यदि आप वेदान्त के स्वर में स्वर मिला कर विश्वास करें कि “आप सदैव से मुक्त हैं” तो आप अखिल जगत के मोक्षदाता हो जाते हैं ।

४३६—“मैं सर्व हूँ, मैं अखिल विश्व हूँ, मैं अनन्त हूँ”, जब आप ऐसा अनुभव करने लगते हैं, तब आप समग्र हो जाते हैं, और शारीरिक रोग, पीड़ा, व्यथा, चिन्ता तक दूर हो जाती है, उड़ जाती है, और छिन्न-भिन्न हो जाती है ।

४३७—कृपा करके उन स्वार्थमय उपायों और

अभिप्रायों को दूर हटा दीजिये जो आप को परिच्छिन्न रखते हैं । सब वासना राग है, सब वासना व्यक्तिगत या शरीरगत प्रेम है । सब वासना आसक्ति है । इसे फेंक दो और स्वयं पवित्र रूप हो जाओ । अगर आप इसे प्राप्त कर लें, तो आपका शरीर अवश्य स्वस्थ हो जायगा । आपकी बुद्धि अवश्य पूर्ण स्वरूप होगी ।

४३८—यदि लोग आपकी प्रशंसा नहीं करते तो कोई परवाह नहीं, यदि आप की ख्याति नहीं है तो क्या चिन्ता । संसार की दृष्टि में जो सफलता है वह तो केवल इन्द्रियों की धोखेबाजी है । तुम तभी सफलता प्राप्त करते हो, जब तुम निश्चय करते हो कि मेरी विराट से अर्थात् ईश्वर से एकता है और सफलता मैं स्वयं हूँ ।

४३९—यदि संसार के दूसरे पदार्थ या सुख आ मिलते हैं तो तुम्हें कहना चाहिये कि शैतान ! हट मेरे सामने से, तेरे हाथों से मुझे कुछ नहीं चाहिये । तब देखो तुम कितने सुखी होते हो । तब तुम स्वर्ग स्वयं हो जाते हो ।

४४०—परमात्मा पर विश्वास रखकर अपनी जीवन डोरी उसके चरणों में सदा के लिये बांध दो, फिर निर्भयता तो तुम्हारे चरणों की दासी बन

जायगी ।

४४१—कुछ लोग कहते हैं कि स्त्रियां, बालक, और शूद्र ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं हैं । यही वह दृष्टि बिन्दु है जिसने वेदान्त को एक धार्मिक सिद्धान्त ही बनाये रखा । उसे व्यवहार में नहीं आने दिया । वेदान्त की महत्ता मानी गई पर उसका व्यवहार सन्देहात्मक ही रहा ।

४४२—कोई मनुष्य अपने ज्ञान के विरुद्ध नहीं जा सकता, कोई जानबूझ कर कुएं में न कूदेगा । 'यह करो' 'यह न करो' ऐसे विधि-निषेधात्मक आदेशों से मनुष्य में पशुत्व जाग्रत होता है ।

४४३—अज्ञानो को क्रिया विषे द्वैत भासता है, अरु हमको क्रिया विषे भी अद्वैत भासता है ।

४४४—जैसे स्वप्न विषे बड़े क्षोभ होते हैं तो भी जाग्रत वपु को स्पर्श नहीं करते । काहेते हैं कि उस विषे कुछ हुए नहीं, आभास मात्र है । तैसे ही जगत की उत्पत्ति प्रलयादिक क्षोभ विषे आत्मसत्ता को स्पर्श नहीं ।

४४५—जैसे स्वप्न विषे एक अपना आप होता है, निद्रा दोष करिके द्वैत भासता है । तैसे एक अब भी आत्मा अद्वैत रूप है, अविचार करि के नानात्व

भासता है ।

४४६—जैसे सूर्य को अन्धकार नहीं भासता, तैसे हमको द्वैत नहीं भासता सर्व शब्द आत्म रूप ही है ।

४४७—जैसे स्वप्न सृष्टि अपने आप होती है, निद्रा दोष करिके भिन्न भासता है तैसे यह जगत अपना आप है, परन्तु अज्ञान करके भिन्न भासता है ।

४४८—जो बोध समय द्वैत कछु नहीं भासे तो अबोध समय भी जानिये कि द्वैत कछु नहीं हुआ । अपनी कल्पना ही जगत रूप होकर भासती है ।

४४९—जैसे स्वप्न सृष्टि अपनी कल्पना रूप है, परन्तु निद्रा दोष करिके भिन्न हो भासती है, तिस विषे राग द्वेष उपजता है, अरु जागे तो सब क्षोभ मिट जाते हैं, तैसे अज्ञान करिके जगत सत्य भासता है, तिस विषे राग द्वेष भासते हैं । ज्ञान करिके सब शान्त हो जाते हैं ।

४५०—यदि तुम दिव्य दृष्टि पाना चाहते हो, तो तुम्हें इन्द्रियों का क्षेत्र त्याग देना होगा ।

४५१—जो प्रलय काल के मेघ आदि गर्जे अरु समुद्र उछले अरु पहाड़ के ऊपर पहाड़ पड़े ऐसे भयानक शब्द होवे तौ भी ज्ञानवान के निश्चय विषे कुछ द्वैत नहीं भासता । काहेते जो है नहीं । अरु

अज्ञानी को भासता है ।

४५२—ज्ञान और सच्ची शिक्षा सबकी सब भीतर से निकलती है, पुस्तकों और बाहरी मस्तिष्कों से नहीं ।

४५३—प्रपने आप को शरीर और उसके अड़ोस-पड़ोस से ऊपर उठाओ, मन और उसकी इच्छाओं से तथा संसार और उसकी समितियों के ऊपर स्थित रहो ।

४५४—सूर्य की ओर ऐसे देखो जैसे दर्पण में अपने आपको देखते हो, द्वैत की गंध नहीं सर्वोच्च मेरी आत्मा है । मैं वही हूँ । प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक प्राणी को अपना आप देखो ।

४५५—एक वेदान्ती सूर्य के साथ अपना उसी प्रकार का सम्बन्ध समझता है, जैसे चन्द्रमा का सूर्य के साथ है । चन्द्रमा आप ही आप चमकता प्रतीत होता है । परन्तु सारी चमक सूर्य से आती है । इसी प्रकार सूर्य अपने प्रकाश से प्रज्वलित प्रतीत होता है, परन्तु वह प्रकाश उसे मुझसे प्राप्त होता है ।

४५६—मैं ओऽम् की उपासना नहीं करता, ओऽम् ही मुझे जपता है ।

४५७—सूर्यों का सूर्य मैं हूँ, प्रकाशों का प्रकाश

मैं हूँ, मैं राजाओं का राजा हूँ । बुरे विचारों और साँसारिक इच्छाओं को मेरे सन्मुख आने का अधिकार नहीं । बड़े से बड़ा भी मैं हूँ और नीच से नीच भी मैं हूँ सब मैं मार्ग सुगम है ।

४५८—भय, चिन्ता देवैनी से ऊपर उठो । तुम्हें ज्ञान का अनुभव होगा ।

४५९—अपने प्रति सच्चे और निर्मल बनो । अपने अनुभव के अनुसार जीवन बनाओ । अपने अनुभव से अधिक प्रवीण और कोई शिक्षक संसार में नहीं है ।

४६०—दूसरों को हित करने की चाल ही हमारे आकर्षण केन्द्र को हमसे बाहर खड़ा कर देती है ।

४६१—चारों ओर अनन्त भविष्य सम्पूर्ण देश में केवल एक ही परमात्मा का अस्तित्व है और वह मेरा अपना आप है फिर डर किस का हो ।

४६२—बुखार आने पर मैं विकल नहीं होता, मित्रवत् उसका स्वागत करता हूँ । और उस समय ऐसे आध्यात्मिक तत्व चमक उठते हैं, जो अन्यथा कभी प्रकट नहीं हो सकते थे । हर एक दशा स्वास्थ्य रूप है ।

४६३—नहीं, किसी जर्हाह, वैद्य, किसी को मत बुलाओ । मेरे लिये मेरा दर्द ही पूर्णतः हर्ष है ।

४६४—तुच्छ लाभों और हानियों पर तुम्हारा ध्यान क्यों इतना जम जाय कि अनन्त आनन्द (आत्मा से) ध्यान हट जाय ?

४६५—अपने आप में आनन्द प्राप्त करना कठिन है, पर उसे अन्यत्र प्राप्त करना तो असम्भव है । मैं ही नोचे, मैं ही पीछे, मैं ही सामने और मैं ही संसार का सब कुछ हूँ । मैं ही पूर्णानन्द, एकरस, ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हूँ । अर्थात् सेवक भाव रहित अद्वैत आत्मा हूँ ।

४६६—जिस तरह मछलियाँ जल राशि में ही रहती हैं । जिस तरह चिड़ियाँ वायुराशि में रहती हैं । उसी तरह तुम प्रकाश निधि में रहो, प्रकाश में ही रहो, चलो फिरो, अपना अस्तित्व प्रकाश में ही रखो ।

४६७—मैं संसार का प्रकाश हूँ । प्रकाश के रूप से मैं ही सब वस्तुओं में व्याप्त हूँ । इन विचारों को निरन्तर आपको अपने सामने रखना चाहिये ।

४६८—ॐ ॐ सारा विश्व मुझ में समाया हुआ है । सारी दुनियाँ में हूँ, मेरा ही रुधिर मांस है ।

४६९—दो और तीन अनेकता मिथ्या है । द्वैत के लिये कोई स्थान नहीं, सदा एक है ।

४७०—इस शरीर को अपने पैरों से कुचल डालो, यह शरीर मैं नहीं हूँ यह अनुभव करो ।

४७१—योग श्रेष्ठ के लिये शुभाशुभ बातें आत्म-स्वरूप ही होने के कारण कभी क्लेश कारक नहीं होतीं ।

४७२—इस तत्व के विषय में कुछ भी भ्रम या भ्रान्ति नहीं है कि मैं ही समस्त शरीरों में निवास करता हूँ । और सारा विश्व मुझमें निवास करता है ।

विश्व और हम बिल्कुल एक हैं और एक दूसरे से मिले हुए हैं । सारा विश्व मेरा ही संकल्प है, मुझ से भिन्न कुछ नहीं है ।

४७३—अपने शरीर के रोम रोम में ओ३म् का उच्चारण करो । पहले धीरे धीरे प्रारम्भ करो, ध्वनि पहले गले से निकलती है, फिर वक्षस्थल से फिर और अधिक नीचे से, यहां तक कि रीढ़ की हड्डी के नीचे से निकलने लगती है । बस विद्युत् के धक्के से तुरन्त सुषुमा नाड़ी खुलती है । रोग मात्र के साथ कीटाणु भाग खड़े होते हैं ।

४७४—“सब प्रकार के अत्याचारों का प्रारम्भ दयालुता से होता है” यह कहावत इतनी सच्ची है कि उसकी सत्यता में सन्देह नहीं हो सकता ।

४७५—जहाँ जहाँ ईर्ष्या-द्वेष प्रतिस्पर्धा और दल बन्दी के वशीभूत होकर अपने ‘समान’ से संघर्ष

करने में शक्ति का अपव्यय करने बदले 'समकोन' से मैत्री स्थापित कर ली जाती है वहां 'असमान' के साथ संघर्ष में विजय सदा निश्चित है ।

४७६—जहां 'असमान' के साथ भी प्रेम का पोषण किया जाता है, वहां प्रकृति के साथ संघर्ष में विजय और सफलता निश्चित हो जाती है । प्रकृति के तत्वों पर विजय पाना सहज हो जाता है ।

४७७—प्रकृति के साथ संघर्ष करने का अर्थ है कि हम स्थूल जगत के स्तर पर भी उस परमतत्व का अनुभव करते हैं कि "मैं हो सब की शासक आत्मा हूं" । संघर्ष तीन प्रकार का है :—(१) असमान से (२) समान से (३) प्रकृति के विरुद्ध ।

४७८—दोष तभी दिखाई देते हैं जब प्रेम के अभाव से हमारे लोचन पांडुरोग ग्रस्त रहते हैं ।

४७९—यदि साधक अभ्यास के मार्ग में उसी प्रकार आगे बढ़ता चला जाए, जिस प्रकार उसने आरम्भ में उस मार्ग पर चलने के लिये पैर उठाया था, तो निश्चय ही आयुष्य सूर्य के अस्त होने से पहले ही और जीवन रूप दिन रहते ही सोऽहम् सिद्धि के स्थान तक अवश्य पहुंच जायगा ।

४८०—लोग द्रुतगति से उन्नति क्यों नहीं करते,

क्योंकि बाहरी सम्मतियां, विचार धाराओं का बड़ा भारी बोझ हिमालय की तरह उनकी पीठ पर लदा रहता है।

४८१-तुम्हारे चित्त में ऐसी शिरका (शराब) होनी चाहिए कि उसमें पड़ते हो दुनियाँ गल जाय। विश्व के गलते रहते रहने पर भी आत्मज्ञान की सार्व-भौमिक धारा में भी उसकी ज्योति सदा पारदर्शक रहती है। ठीक तरह से विचार करो, फिर चाहे आसमान गिरे या पृथ्वी फटे, तुम्हारी उन्नति का संगीतमय पथ बराबर खुला ही रहेगा। न कोई शत्रु कभी तुम्हें देखेगा और तुम उस स्थिति में शत्रु का ख्याल तक नहीं कर सकते।

४८२-न मेरा कोई शत्रु और न मैं किसी का शत्रु। मैं विश्व कल्याण हूँ। "मैं सब वस्तुओं में, सब देहों में वर्तमान हूँ। सब जन्तुओं में मैं वर्तमान हूँ, मैं ही यह जगत हूँ। सम्पूर्ण जगत ही मेरा शरीर है। जितने दिन एक भी परमाणु शेष है उतने दिन मेरी मृत्यु की सम्भावना ही क्या है। कौन कहता है कि मेरी मृत्यु होगी", ऐसे ही समय निर्भीक अवस्था आ जाती है।

४८३-मैं तो सकल वस्तुओं का ज्ञाता स्वरूप हूँ।

यह जगत एक अखण्ड रूप है ।

४८४—यदि तुम जगत का उपकार करना चाहते हो तो जगत के ऊपर दोषारोपण करना छोड़ दो । परमार्थतः जगत एक अखण्ड स्वरूप है । तुम, मैं, सूर्य तारे, ये सभी एक जड़ समुद्र के विभिन्न अंशों के नाम मात्र हैं । यह सब एक ही अखण्ड जड़ राशि है । केवल नाम रूप से पृथक्-२ है । उसके एक बिन्दु का नाम सूर्य है, एक का नाम चन्द्र, एक का तारा, एक का मनुष्य आदि । यह जो भिन्न भिन्न नाम हैं भ्रमात्मक हैं । इसी जगत को एक दूसरे भाव से देखने पर यह एक विशाल चिन्ता समुद्र के समान प्रतीत होगा जिसका एक २ बिन्दु एक २ मन है । प्रत्येक व्यक्ति केवल एक २ मन है, तुम एक मन हो, मैं एक मन हूँ इत्यादि । इसी जगत को ज्ञान की दृष्टि से देखने पर, अर्थात् जब आँखों पर से मोह का पर्दा हट जाता है, जब मन शुद्ध हो जाता है तब वही नित्य शुद्ध, अपरिणामी, अविनाशी, अखण्ड, पूर्ण स्वरूप पुरुष के रूप में प्रतीत होगा ।

४८५—सबसे बड़ा मिथ्या ज्ञान यह है कि हम शरीर हैं जो न हम कभी थे न कभी हो सकते हैं । हम जगत के ईश्वर हैं ।

४८६—पापी और दुष्ट मनुष्य ही बाहर पाप देख पाता है । किन्तु साधु मनुष्य को उसका बोध नहीं होता । अत्यन्त असाधु पुरुष इस जगत को नरक स्वरूप देखते हैं । मध्यम श्रेणी के लोग इसे स्वर्ग स्वरूप देखते हैं और जो पूर्ण सिद्ध पुरुष हैं वे साक्षात् भगवान् के रूप में ही देखते हैं ।

४८७—समस्त ब्रह्माण्ड एक चित्र के समान है । सभी वस्तुओं में ईश्वर बुद्धि करो । प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक भाव में, प्रत्येक चिन्ता में ईश्वर पहले ही से स्थित है इसी प्रकार समझ कर हमें अवश्य ही कार्य करते जाना होगा । इसी प्रकार करने पर कर्मफल तुमको लगेगा ही नहीं ।

४८८—अतएव बार बार असफल हो जाओ तो भी कोई हानि नहीं है, सहस्रों बार इस आदर्श को हृदय में धारण करो, किन्तु सहस्र बार असफल होने पर भी फिर एक बार प्रयत्न करो । यदि सब वस्तुओं में इसको (ब्रह्म को) देखने में तुम सफल न हो तो कम से कम एक ऐसे व्यक्ति में कि जिसको तुम सबसे अधिक प्रेम करते हो, उसका दर्शन करने की चेष्टा करो—इसी प्रकार तुम आगे बढ़ सकते हो ।

४८९—जो दुनियां और उसके भंभटों में सबसे

अधिक फंसे हुए हैं उन्हीं को वेदान्त की सबसे अधिक जरूरत है ।

४६०—एक अविवाहित मनुष्य के लिये आत्मा-अनुभव उतना सहज नहीं है जितना विवाहित और पारिवारिक जीवन को यथार्थ रीति से पालन करने वाले मनुष्य के लिये ।

४६१—जगत के पाप अत्याचार की बात मत कहो । किन्तु तुम्हें जगत में अब भी जो पाप देखना पड़ता है उसके लिये रोदन करो । अपने लिये रोओ कि तुम्हें अब भी सर्वत्र पाप देखना पड़ता है ।

४६२—थकावट के सभी अवसरों पर ऊँ का उच्चारण करो ऊँ, ऊँ ।

४६३—‘बहुधन त्याग दो’ अपना शब्द ज्ञान भूल जाओ, सबसे छोटे बन जाओ, ऐसा करने से मेरे समीप आओगे ।

४६४—यदि हम जान पायें कि इस आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, और जो कुछ है सब स्वप्न मात्र है, तो इस जगत का दुःख दारिद्र्य, पाप-पुण्य कुछ भी हमको चंचल कर नहीं सकेगा ।

४६५—आप से पृथक ईश्वर नहीं है, आप से यथार्थतः जो आप हो उससे श्रेष्ठतर ईश्वर कोई

नहीं है सब ईश्वर अथवा देवता आपकी तुलना में क्षुद्रतर हैं ।

४६६—“हम नित्य मुक्त हैं” किसी काल में भी हम बंधे नहीं हैं । अनन्त काल से हम इस जगत के ईश्वर हैं ।

४६७—भला बुरा वही देखता है जिसके निजके भीतर भला बुरा होता है । दूसरे की देह को वही देखता है जो अपने देह को समझता है ।

४६८—अतएव जगत में जो कुछ है, सबका ही पहले अच्छा कहकर ध्यान करना होगा, क्योंकि वे उसी पूर्ण स्वरूप को अभिव्यक्ति हैं ।

४६९—ज्योंही हम भले बुरे की इन भ्रान्त धारणाओं को छोड़ देंगे त्योंही यह स्वर्ग में परिणत होगी ।

५००—मन में भय, अशान्ति उद्वेग और विषाद को स्थान मत दो । सदा शान्त, निर्भय और प्रसन्न रहने का प्रयत्न करो ।

५०१—यह जो कुछ प्रपंच है बिना हुआ ही भास रहा है । परमार्थ दर्शियों को इसके प्रति आदर नहीं होता । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, इसी का नाम प्रपंच है । परमार्थ तत्त्व इसके सबसे विलक्षण, इसमें अनुगत तथा इसका अधिष्ठान और साक्षी है ।

५०२—यह सारा लौकिक और वैदिक व्यवहार अविद्या का ही विषय है ।

५०३—न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है, यही परमार्थ है ।

५०४—यदि तुमने अपने शरीर के लिये चैन और आराम चाहा, यदि विलासिता और इन्द्रियों के सुखों में तुमने अपना समय नष्ट किया तो तुम्हारी खैर नहीं है । तुम बराबर काम करने की नीति बरतो । सफलता का पहला सिद्धान्त है काम वा विश्रामहीन काम । यदि इस सिद्धान्त पर काम करें तो आप देखेंगे कि छोटा बनना जितना सहज है बड़ा बनना भी उतना ही सहज है ।

५०५—काम में अपने तुच्छ अहंकार अर्थात् परिछिन्नात्मा को भूल जाओ और दिलोजान से उस काम में लग जाओ, तुम सफल होगे । यदि तुम विचार कर रहे तो विचार ही बन जाओ तब तुम्हें सफलता होगी । यदि तुम काम में लगे तो स्वयं काम ही बन जाओ और सफलता का यही उपाय है ।

५०६—भूतकाल पर बिना खिन्न हुए और भविष्य की बिना चिन्ता किये जीवित वर्तमान में

काम करो, यह भाव तुम्हें सब अवस्थाओं में प्रसन्न रखेगा । जो कुछ हमें प्राप्त है उसका सदुपयोग ही अधिक प्रकाश पाने का साधन है ।

५०७—किसी वास्तविक और उत्सुक कार्यकर्त्ता को एक आवश्यक नियम के अनुसार अपने मार्ग में कहीं भी अन्धेरी भूमि नहीं मिलती ।

५०८—भावी सफलता के लिये अशान्ति वा कालव्यग्रता प्रायः स्वयं ही असफलता का कारण होती है ।

५०९—ज्योंही तुम सफलता की ओर अपनी पीठ फेरते हो, ज्योंही तुम परिणामों की चिन्ता त्याग देते हो, ज्योंही तुम अपनी उद्योग शक्ति अपने उपस्थित कर्त्तव्य पर एकाग्र करते हो त्योंही सफलता तुम्हारे साथ हो जाती है । अतः सफलता को अपना लक्ष्य न बनाओ तभी सफलता तुम्हें ढूँढेगी ।

५१०—अपने प्रति होने वाले अन्याय को सहन करते हुए यदि अन्यायकर्त्ता को क्षमा कर दिया जाय तो द्वेष प्रेम में बदल जाता है ।

५११—दृश्य का सम्बन्ध सुख दुःख में आबद्ध करता है और दृश्य से असंग होने पर किसी प्रकार का दुःख शेष नहीं रहता ।

५१२—अपना निरीक्षण ही वास्तविक सत्संग, स्वाध्याय और अध्ययन है । आत्म-निरीक्षण के बिना कोई भी सद्ग्रन्थ तथा सद्गुरु से मिला प्रकाश अपने काम नहीं आता ।

५१३—शरीर संसार रूपी सागर का एक बिन्दु मात्र है, अतः शरीर रूपी बिन्दु को संसार रूपी सागर की सेवा में लगा देना ही शरीर का सर्वोत्तम सदुपयोग है ।

५१४—कोई ऐसा दुःख है ही नहीं कि जिसका जन्म किसी न किसी प्रकार के सुख भोग से न हो ।

५१५—सारा कार्य प्रकृति में हो रहा है । आत्मा सदा निर्लेप है । सारे द्वन्द्व प्रकृति में हैं । ध्यान के समय यह भावना करना उचित है कि दुनियां में हमारा कोई दुश्मन नहीं, एक ही परम पिता परमात्मा की हम सब सन्तान हैं । उनसे आया हूँ फिर उनमें मिलूंगा, व्यवहार के लिए हमको उसके साथ ऐसा बोलना पड़ा, हे सर्वेश्वर परमात्मा, मुझे क्षमा करो ।

५१६—“मन को वश करने का उपाय ।”

मन को समझना चाहिए नौकर और मैं मनका प्रभु हूँ । हम अपने मनको नौकर समझ कर उपेक्षा करें तो थोड़े दिनों में मन वश में हो जाता है और भी

मन के चंचल भावों को न देख कर अपने स्वरूप की ओर शान्त होकर बैठें तो थोड़े दिनों के अन्दर ही मन नष्ट हो जाता है । इस रूप से साधक अपने आनन्द स्वरूप में मग्न हो सकता है । ऐसे ही ध्यान के समय अपना सारा मानसिक चिन्तन बाहर की समस्त सम्पत्ति ईश्वर चरणों में अर्पण करके शान्त होकर बैठ जाय तो इससे हानि होती ही नहीं । ईश्वर तब तक समस्त सम्पत्ति देह, प्राण और मन की रक्षा करेंगे । ईश्वर अर्पण बुद्धि से कभी हानि नहीं होती, अपितु देह, प्राण और मन में एक नवजीवनी शक्ति का संचार होगा । जिससे तुम शान्ति और आनन्द से अपनी और विश्व की उन्नति करके सफल और सार्थक जीवन बिता सकते हो ।

५१७-यह नियम है कि भयभीत प्राणी ही दूसरों को भय देता है । भयरहित हुए बिना अभिन्नता आ नहीं सकती । अभिन्नता के बिना वासनाओं का अन्त सम्भव नहीं है और निर्वासना के बिना निर्वैरिता, समता मुदिता आदि दिव्यगुण उत्पन्न नहीं होते । जो बल दूसरों की निर्बलताओं को दूर नहीं कर सकता वह वास्तव में बल ही नहीं है ।

५१८-जैसे बालक अपनी परछाईं विषे बैताल

कल्पिकर भय को पाता है । परमार्थ से कुछ द्वैत नहीं सब संकल्प रचना है ।

५१६—जैसे स्वप्न विषे संकल्प करके दुःखी सुखी होता है तैसे जाग्रत में भी संकल्प से ही सुखी दुःखी होता है ।

५२०—यद्यपि स्वप्न संसार और जाग्रत जगत दोनों हो संकल्प मात्र हैं । तथापि स्वप्न संसार ज्ञात का सादि संकल्प अर्थात् संकल्प है पीछे का और जाग्रत ज्ञान अर्थात् ईश्वर का आदि संकल्प है ।

५२१—ये पाँचों भूत जो इन्द्रियों से बाहर दिख रहे हैं ये सबके सब मन के अन्दर है । न कोई सृष्टि है न स्रष्टा है सब आत्मा है बाकी सब भ्रम मात्र है ।

५२२—स्वप्न के समय अकेला स्वप्न देखने वाला होता है और यह स्पष्ट है कि स्वप्न की आकृतियाँ स्वप्नकाल में स्वप्न देखने वाले से ही निकलती हैं और जिस प्रकार वह आकृतियाँ द्रष्टा स्वरूप से निकलती हैं उसी तरह उन आकृतियों का अन्तर और विभाग भी साक्षी स्वरूप से निकलता है । इसी कारण वह आकृतियाँ पृथक-पृथक दिखाई देती हैं ।

५२३—बुद्धि तो नानात्व को सत्य जानती है और

वेद नानात्व को मिथ्या और नानात्वदर्शी को अद्वैत तत्व सिद्ध करता है ।

५२४—सम्पूर्ण प्रपञ्च अज्ञान जन्य है यह ज्ञान होने पर लीन हो जाता है । जैसे स्वप्नावस्था में एक ही स्वप्न का देखने वाला अनेक रूपों को धारण करके किसी रूप से बद्ध और किसी रूप से मुक्त होता है । वास्तव में स्वप्न के देखने वाले में बंधन और मोक्ष असली नहीं है । तो भी अविद्या आवरण के दोष से वह अपने आप में बंध और मुक्त बर्ताव करता है ।

५२५—मैं सुषुप्ति अवस्था में जिस प्रकार निर्विकार रहता हूं उसी प्रकार जाग्रत और स्वप्न में भी निर्विकार रहता हूं । स्वप्न और जाग्रदादि अवस्था विषयादि के स्पर्श से मैं विकृत नहीं होता । क्या जाग्रत संसार और क्या स्वप्न संसार मनोमात्र है वास्तविक अथवा बाहर में स्थित नहीं है ।

५२६—प्रसन्न चित्त उद्योगी कार्यकर्त्ता को प्रकृति हर प्रकार की सहायता का वचन देती है ।

५२७—मेरे विषे दुःख कोई नहीं क्योंकि मैं आत्मा हूं । और मेरे विषे अहंकार भी नहीं तो ग्रहण त्याग किसका करूं ।

क्या जाग्रत संसार और स्वप्न संसार मनोमात्र

है वास्तविक अथवा बाहर में स्थित नहीं है ।

५२८—यह सुष्ठुप्ति अवस्था वह अवस्था है जिसमें वर्तमान काल का समस्त नानात्व का अभाव हो जाता है । और सच्ची एकता प्राप्त होती है ।

५२९—भय दूसरे से होता है । मनुष्य को चाहे भगवत् दर्शन हो जाय परन्तु तब तक वह अपने आपसे उसे (भगवत् ज्ञान या ईश्वर परमात्मा को) भिन्न जानता है भयभीत रहता है । श्रुति का अभिप्राय यह है कि अपने आप से किसी को भय नहीं होता ।

५३०—श्लोकाद्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थ कोटिभिः

ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः ।

५३१—प्रत्येक समय प्रसन्न रहना सबसे बड़ा परमात्मा का स्मरण तथा उपासना है ।

५३२—इन मूर्ख प्राणियों का अपना संकल्प ही इनको भय देता है और कोई नहीं । जब अज्ञान को छोड़कर विचार करता है कि मेरा ही संकल्प था और वही मुझको भ्रम में डाल रहा था । मेरे से भिन्न कुछ भी नहीं ।

५३३—जहां तक दृष्टि जाती है मैं सबका बाद-शाह हूं । और मेरे स्वत्व पर कोई भगड़ने वाला नहीं । सब शाहों का शाह मैं मेरा शाह न कोय ।

सब देवों का देव मैं मेरा देव न कोय ॥

डंडा कुल पर है मेरा, क्या सुलतान अमीर ।

पत्ता मुझ विन ना हिले, आँधी मेरी असीर ॥

५३४—जब तक तुमको बाहर से चोर दिखाई देता है तुम्हारे भीतर चोर अवश्य होगा । जब तक और लोग ब्रह्म से भिन्न (अयोग्य, खराब, सुधारने योग्य) दिखाई देते हैं, ऐ सुधार का बीड़ा उठाने वाले अपनी चिकित्सा कर ।

५३५—जिस ओर मैं दृष्टि डालता हूँ अपना ही मुख देखता हूँ । और जिस किसी को देखता हूँ अपना ही शरीर देखता हूँ । देश और काल से मैं समस्त व्यष्टि और समष्टि में भरपूर हूँ और जिस ओर जाता हूँ अपनी ही गली (निवास स्थान) पाता हूँ ।

५३६—जिसे संसार कहते हैं वह शीशे में केवल तेरे मुखमण्डल की छाया है ।

५३७—किसी प्रकार काल काटने मजदूर की तरह काम न करो । आनन्द के लिए उपयोगी कसरत समझकर, सुख क्रीड़ा अथवा मनोरंजक खेल समझकर कुलीन राजकुंवर की तरह करो । दबे हुए दिल से कदापि किसी काम को हाथ में न लो । अनुभव करो कि महाराजे और राष्ट्रपति तुम्हारे चाकर हैं ।

५३८—भय ही एक मात्र भयंकर शत्रु है ।
इसलिये सब भयों को भाड़ में फेंक दो ।

५३९—पवित्र पुस्तकों और उपदेशों अर्थात् बेदों और शास्त्रों में ईश्वर नहीं पाया जा सकता । अपने शुद्ध हृदय रूयी वेद में देख क्योंकि इससे उत्तम पुस्तक कोई नहीं है ।

५४०—वह ज्ञानी जो सारे संसार को अपना आप देखता है, प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वरूप समझता है । वह किससे अप्रसन्न हो ? उसके लिये विक्षेप कहाँ ?

५४१—संसार में जितनी वस्तुयें प्रत्यक्ष में घबराने वाली मालूम होती हैं वास्तव में तेरी प्रफुल्लता और आनन्द के लिये प्रकृति के हाथ ने तैयार की हैं । उल्टा डरने से क्या लाभ ? तेरी ही मूर्खता तुझे चक्कर में डालती है नहीं तो तुझे कोई नीचा दिखाने वाला नहीं । यह पक्का निश्चय रख कि संसार तेरे किसी शत्रु का बनाया हुआ नहीं । वरन तेरे ही आत्म देव का सारा विकास है । संसार का कोई भी पदार्थ तुझे वास्तव में दुःख नहीं दे सकता है ।

५४२—यदि सब कुछ स्वप्न ही है तो फिर चिन्तायें कैसी ?

५४३—जो कुछ हमने सोचा था वह स्वयं गलत

था । वह बचाव का उपाय ही विनाश हो जाने का कारण बनता है । ठीक यही हाल घबड़ाने वाले मनुष्यों का होना है ।

५४४—प्रयत्न का त्याग करना मंजिल का पल्ला प्राप्त करना है अर्थात् मित्र लाभ की इच्छा ही बेचैनी रखती है । जब यह इच्छा दूर होती है तभी साक्षात्कार की प्राप्ति है । तू उस प्रयत्न से अपने मार्ग को उल्टा दूर क्यों करता है । दूरदर्शिता मनुष्य को अंधा बना देती है ।

५४५—जिनको आप भयानक घटनायें और भयंकर चोटें अनुमान किये बैठे हो, वह वास्तव में तो तुम्हारे प्रियतम आत्मदेव ही की करतूतें हैं । सबकी सब डरावनी बातें और प्राण नाशक घटनायें रूप और आकार तो विष का रखती हैं मगर बनी हुई मिशरी की हैं ।

५४६—स्वप्नावस्था में पुरुष वस्तुतः आप ही आप होता है किन्तु तमाशा यह है कि इधर तो अपने व्यष्टि रूप से अपने आपको एक फकीर या अमीर विद्यार्थी या मंत्री आदि देखता है उधर अपने समष्टि रूप से सिंह, व्याघ्र, नदी, नगर उत्पन्न कर लेता है । जिनको उस समय अपने आपसे पृथक् समझता है ।

जागी हुई दृष्टि से देखे तो स्वप्न में यह जिसको अपना स्वीकार करता है वह भी इसी का ख्याल है और जिनको अपने से पृथक् मानकर उनसे भय करता है, भयभीत हो जाता है वे भी इसी की सृष्टि है, आप ही भेड़ है और आप ही भेड़िया । ठीक यही दशा जाग्रत अवस्था में है ।

५४७—जिसमें तू डरता है वह तू ही है । जिससे भयभीत होता है वह तू ही है । अपने ही तेज और प्रताप से भयभीत मत हो । सब तेरे ही प्रकाश हैं । उससे मत डर, निधड़क हो जा ।

५४८—जो कुछ देखने सुनने में आता है केवल ख्याल ही ख्याल हैं ।

५४९—जिस जगह तेरी आँख पड़े, उसको तू मेरे अतिरिक्त मत जान मैं वही हूँ । मैं वही हूँ । मैं वही हूँ ।

५५०—वेदान्त का यह अनुशासन है कि नीच, शत्रु, पाषाण हृदय, पिशाच कोई है ही नहीं, मेरा पवित्र स्वरूप ही समस्त रूपों में प्रति समय शोभायमान है । अपने आपका कोई अनिष्ट नहीं करता, अतः मेरा अनिष्ट करने वाला कौन है । सब मेरे शरीर हैं, मेरे अपने आप से अवश्य मुझको हानि का भय नहीं ।

बाहरी विरोध वास्तविक नहीं केवल देखने मात्र है ।

५५१—मैं इस अनन्त सृष्टि का पिता, माता, पितामह और रक्षक हूँ । ज्ञान और पवित्रता का परिणाम हूँ या जानने योग्य और शुद्ध करने वाला जो ओम है वह मैं हूँ ।

५५२—यह सब चर अचर रूपी द्वैत तभी तक हैं जब तक मन देखने वाला बना है, मन के शान्त हुए द्वैत की गंध शेष नहीं रहती ।

५५३—यह पंच भूत तुम्हारे बनाये हुए हैं । भिन्न और भय को दूर कर दो ।

५५४—सुषुप्ति तुम्हारी मुश्कें कसकर, हाथ पांव बाँधकर यह पाठ नित्य पढ़ाती है कि देश, काल, वस्तु सत्य नहीं, सत्य नहीं, केवल देखने मात्र हैं दिखावटी हैं मत डरो । (भय, शोक, चिन्ता सत्य नहीं सत्य नहीं केवल देखने मात्र हैं मत डरो) ।

५५५—यदि स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव को भी जाग कर कह देते हो कि यह भूठ है तो जाग्रत के अनुभव को भी भूठ कह देना आवश्यक है क्योंकि स्वप्न और सुषुप्ति के विश्वास से यह भी उड़ जाता है ।

५५६—यदि तू उसके अतिरिक्त है उसकी ओर से आँख सी ले (बन्द कर ले) ।

५५७—जो कुछ भलाई और बुराई दृष्टिगोचर होती है वह सब ईश्वर का स्वरूप है ।

५५८—जैसे एक धागे में उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ प्रकार के फूल गुथे हुए हैं, वैसे सब में समाने वाले (आत्मा) में उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ शरीर पिरोये हुए हैं । जैसे फूलों की उत्तमता, और मध्यमता और कनिष्ठता तार पर कुछ प्रभाव नहीं डालती वैसे शरीरों का उत्तम, मध्यम और कनिष्ठपन मुझ सर्व-व्यापक आत्मा का तनिक भी बिगाड़ नहीं कर सकता । जैसे उन समस्त फूलों के नष्ट हो जाने पर तार को कुछ हानि नहीं, वैसे ही शरीरों के नाश हो जाने से मुझ सर्वगत आत्मा को तनिक भी क्षति नहीं पहुंचती ।

५५९—राम रहीम सब तेरे बन्दे (सेवक) हैं तुझसे बड़ा कोई नहीं है । इस लिए तू अपने आप को ईश्वर निश्चय कर ।

५६०—बादल, हवा, चन्द्रमा, सूर्य और आकाश सब तेरे काम के लिए हैं ताकि तू रोटी प्राप्त करे किन्तु उसको गफलत (प्रमाद) से न खाये । ये सब तेरे लिये चक्कर लगा रहे हैं, और तेरे आज्ञाकारी (गुलाम) हैं ।

५६१—उच्च स्वर से कहता हूँ कि मैं खुदा हूँ और तेजों का तेज स्वरूप आत्मा इस सूर्य और चन्द्र को प्रकाश दान करता है वह मैं हूँ ।

५६२—आप ही समस्त वस्तुओं को आनन्दमय बनाना और आप ही मूढ़ की तरह उनका पीछा करना ।

५६३—जीविका की चिन्ता, प्रणयिनी सुन्दरियों का श्रवण-मनन एवं लोगों का दुःखमय स्मरण यदि तू अपने निजस्वरूप का ही प्रेमी होवे तो सब मिट जाय ।

५६४—क्या फकोर, क्या अमीर, क्या छोटा, क्या बड़ा, क्या कैदी, क्या राजमंत्री सब एक ही हैं ।

५६५—संसार मुझ से पहले न था और यह मेरा ही बनाया हुआ है ।

५६६—मैं ही स्वयं कहता हूँ और मैं ही सुनता हूँ, मेरे सिवाय दोनों लोकों में कोई नहीं है ।

५६७—शागिर्द हैं तो हम हैं उस्ताद हैं तो हम हैं, हमारे स्वरूप की एकता में कभी अन्तर नहीं आ सकता । सागर में लाखों तैरंगे होने दो, सागर की एकता में अन्तर नहीं आ सकता ।

५६८—बेगाना गर नजर पड़े, तू आशना को देख ।
बंदा गर आये सामने, तो भी खुदाको देख॥

(अजनबी, पराया का मित्र, सखा, अपना बनाना और बदे (जीव) का खुदा बन जाना भी अवश्य निश्चित हो जायगा) ।

५६८—न नक्शे दुई दिल से मिटा दूँ तो सही ।

मखलूक को खालिक न बना दूँ तो सही॥

कतरा न अनल बहर कहे तो कहना ।

आविद से न मादूद बनादूँ तो सही ॥

५७०—हंसमुख रहना मोतियों का कोष दे देने से भी अच्छा है ।

५७१—संसार बुरा कहता है तो संसार पागल है किन्तु मैं निष्कलंक हूँ ।

५७२—भयानक शत्रु के शरीर में मैं ही स्थित हूँ, मैं ही शत्रु दृष्टिगोचर होता हूँ, मैं ही शत्रु हूँ मैं ही शत्रु हूँ । शत्रु उड़ गये । ज्ञान के गोले ने शत्रु उड़ा दिया । मैं ही मैं हूँ, एकमेवाद्वितीयम् हूँ ।

५७३—जिस वस्तु का हमारी इन्द्रियों का ज्ञान है उसके त्याग से मन का नाश होता है ।

५७४—सिंह की गर्जन, नरसिंह की ललकार, तलवार के जौहर, सर्प की फुफकार, तपस्वी की धमकी और न्यायाधीश की फटकार सब तेरे ही प्रकाश हैं । तू उनसे भयभीत क्यों होता है । असमंजस में

क्यों पड़ता है ? “घर की बिल्ली घर को म्याऊं”
वाला हिसाब बनाने की आज्ञा क्यों दे रहा है

५७५—प्यारे ! जरा अपने आपे में आकर देखो ।
भय कैसा ? बला का क्या काम ? विपत्ति का क्या
काम ? शोक और क्रोध, दुःख और पीड़ा का क्या
प्रयोजन ? आत्मानन्द वाले को भय और आशंका
कैसी ?

५७६—मेरे प्यारे ! अपनी खोई हुई आत्मा को
एक बेर पा लो, धरती और आकाश में शासक
तुम्हीं हो ।

५७७—जब तक अविद्या दूर न होगी, तब तक
चोरी-जारी, जुआ, मद्यपान आदि कभी बन्द न होंगे ।
लाख यत्न भले करो ।

न मारा आपको जो खाक हो अकसीर बन जाता ।
अगर पारे को ऐ अकसीरगर मारा तो क्या मारा ॥

५७८—यार को हमने जा बजा देखा ।

कहीं बंदा कहीं खुदा देखा ॥

सूरते गुल में खिलखिला के हंसा ।

शक्ले बुलबुल में चहचहा देखा ॥

कहीं है बादशाह-तख्तो नशीं ।

कहीं कासा लिये गदा देखा ॥

कहीं आविद बना कहीं जाहिद ।

कहीं रिदों का पेशवा देखा ॥

करके दावा कहीं अनलहक का ।

बरसरे-दार वह खिंचा देखा ॥

देखता आप है सुने है आप ।

न कोई उसके मासिवा देखा ॥

बल्कि यह बोलना भी तकल्लुफ है ।

हमने उसको सुना है या देखा ॥

५७६—इस ज्ञान के कठिन मार्ग पर चलते समय तुम्हे जब भारी कष्ट और दुःख सामने आवें तो उनमें तू सुख समझ क्योंकि इस मार्ग में नित्यानन्द दिलाने वाले होते हैं और इन चोटों और दुःखों से किसी प्रकार साहस हीन मत हो वरन आगे बढ़ता चल और जब तक तू अपने सत्य स्वरूप को भली भाँति न जान ले, कदापि मत टहर

५८०—भलाई बुराई दोनों को छोड़ दें और अन्त को अपनी स्वरूप की ओर से ऐ सत्यस्वरूप तू आ ।

५८१—किसी भी भय को अपने पास मत फटकने दो । समस्त भय और चिन्तायें इच्छाओं का परिणाम है ।

५८२—तुम स्वयं ही अपने सामने भूतों, प्रेतों,

शत्रुओं, मित्रों, पड़ोसियों, भीलों, नदियों और पहाड़ों के रूप में प्रकट होते हो । वास्तव में तुम्हीं आत्मा हो । तुम्हीं नाम रूपात्मक अनात्मा भी । हर एक चीज तुम हो, भूत, प्रेत, देवता और देवदूत, पापी और महात्मा सब तुम्हीं हो ।

५८३—स्वप्नावस्था में तुम एक भेड़िया देखते हो और डरते हो कि भेड़िया तुम्हें खा जायेगा । तुम डर जाते हो, किन्तु जिसे तुम देखते हो वह भेड़िया नहीं है, वह तुम खुद ही हो । अतः जाग्रतावस्था में भी मित्र अथवा शत्रु तुम्हीं हो । तुम्हारा घोर से घोर शत्रु है वह तुम हो, दूसरा कोई नहीं । पृथकता, भिन्नता के इस विचार को अपने हृदय से दूर कर दो । मित्र या शत्रु का रूप तुम्हारा कोरा स्वप्न है ।

५८४—भय से अपने मस्तिष्कों को क्यों पस्त करते हो और प्रार्थनाओं में क्यों अपनी शक्तियों को खपाते हो, दिलेरी से निकल पडो । निर्भय होकर उच्च स्वर से पुकारो “अहं ब्रह्मास्मि, अहं ब्रह्मास्मि” ।

५८५—सारा संसार तुम्हारे अन्दर है । बाहर में कुछ नहीं है ।

५८६—सड़क पर जाते हुए जब किसी मनुष्य को तुम देखो जो प्रतिष्ठित हो चाहे इंगलैंड का सम्राट

हो, चाहे रूस का जार, चाहे यूनाइटेड स्टेट का प्रेजिडेंट हो तो किसी तरह की ईर्ष्या या भय का विचार अपने मन में न आने दो । उसकी शाहाना नजर को अपनी ही दृष्टि समझकर मजे लूटो—मैं वही हूं अन्य कोई नहीं । जब तुम ऐसा अनुभव करने को चेष्टा करोगे, तब तुम्हारा अपना अनुभव यह सच्चा सिद्ध कर देगा कि सब एक है ।

५८७—स्थावर और जंगम जगत सब मेरे मुख में हैं । सब दृश्य नाम और रूपमय हैं ।

५८८—चाहे पृथ्वी अपना गुण (गंध) छोड़ दे, जल अपना गुण (रस) छोड़ दे, तेज अपना गुण (रूप) छोड़ दे, वायु अपना गुण (स्पर्श) छोड़ दे, अग्नि अपनी उष्णता छोड़ दे, आकाश अपने धर्म (शब्द) को छोड़ दे । चन्द्र अपनी शीतलता को छोड़ दे, धर्मराज (यमराज) धर्म (न्याय) छोड़ दे, किन्तु मैं सत्यता को कदापि नहीं छोड़ूंगा । जो एक बार मेरी समझ में आ जाय कि यह सत्य है उस पर अवश्य चलूंगा । चाहे सारी सृष्टि विरुद्ध हो जाय । परवाह नहीं ।

५८९—वह ज्ञानी जो सारे संसार को अपना आप देखता है, प्रत्येक व्यक्ति को अपना स्वरूप

समझता है । वह किससे अप्रसन्न हो ? उसके लिये विक्षेप कहाँ ?

५६०—यदि हमारा मन ईर्ष्या-द्वेष से बिल्कुल रहित और शुद्ध हो, तो संसार की कोई वस्तु हमें हानि नहीं पहुंचा सकती । शान्ति और आनन्द से भरे हुए सच्चे महात्माओं के निकट क्रोधमूर्ति मनुष्य भी पानी पानी हो जाते हैं । जंगल के भेड़िये, सिंह आदि उन्हें देख प्रेम विह्वल हो जाते हैं । सांप बिच्छू आदि अपने दुष्ट स्वभाव को भूल जाते हैं ।

५६१—वास्तविक दृष्टि से व्यक्तित्व (जीव) तेरी माया का व्यष्टि रूप है और सारा संसार तेरी ही माया का समष्टि रूप है । जब यही मामला है तो जिनसे सामना पड़े वे तेरे ही स्वरूप हैं, तेरा ही प्रकाश है ।

५६२—सब शरीर मेरे हैं, मेरे अपने आपसे अवश्य मुझको हानि का भय नहीं । बाहरी, विरोध वास्तविक नहीं केवल देखने मात्र है । इसी प्रकार मनुष्यों के पारस्परिक भेद भी केवल दिखाई ही देते हैं वस्तुतः हैं ही नहीं ।

५६३—जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, यह तुम्हारा ख्याल है सहित उसके भूत और भविष्य के ।

५६४—स्वप्नावस्था की वस्तुयें उसी समय उत्पन्न होकर दृष्टिगोचर होने लगती हैं, पर स्वप्न देखने वाले को ऐसा भान होता है कि मेरी उत्पत्ति से वे पहले की हैं, यद्यपि वे उसी समय उत्पन्न होती है, पर भ्रान्ति से ऐसा समझा जाता है कि पहले पैदा हुई थीं । ठीक इसी प्रकार जाग्रत अवस्था के समान और उनका ज्ञान भी दोनों एक ही समय उत्पन्न होते हैं, किन्तु अविद्या के जोर से उन वस्तुओं के सम्बन्ध में यह ख्याल भी साथ ही होता है कि इन वस्तुओं की थिरता है अर्थात् यह ख्याल कि ये वस्तुयें वे ही हैं जो पहले देखी थीं ।

५६५—ऐ ब्रह्म ज्ञान के उत्तराधिकारियो ! तुम अपने ही भ्रम की कौल से मत जकड़े जाओ । तुम्हें कोई खींचने वाला नहीं । ये पंचभूत तुम्हारे बनाये हुए हैं । भिन्न और भय को दूर कर दो ।

५६६—जैसे स्वप्न में इस 'मैं' के भीतर इधर एक व्यक्ति भिक्षुक या सम्राट बन जाता है । (व्यष्टि) उधर देश, मैदान, पर्वत, और नदी उपस्थित हो जाती हैं (समष्टि) वैसे ही जाग्रत में इस एक 'मैं' के भीतर इधर एक व्यक्तिपन प्रकट हो जाता है, उधर सारा संसार प्रकट हो जाता है । इधर देश

काल, वस्तु एक व्यक्तिमात्र के भीतर (मस्तिष्क में) उग पड़ते हैं, उधर संसार भर में मौजूद हो जाते हैं ।

५६७—स्वप्न में यदि आप सिंह से दब जाते हो तो क्या सिंह आपका स्वप्न विचार नहीं था ? इधर अधीन (दबा हुआ) शरीर आपका खयाल था, उधर आक्रमणकारी सिंह आपका स्वप्न था । वस्तुतः आपके अपने आप में सब कौतुक कल्पित है । जागो, अपने आप में तुम्हीं सर्वशक्तिमान शुद्ध चेतन देश काल के कर्त्ता-हर्त्ता हो ।

५६८—यह एक छोटा शरीर है इसको तू कहता है “मेरा है” यदि तुझे इसके अंगों और नाड़ी नसों का पूरा पूरा तत्त्वज्ञान हो, तो भी तेरा है । चाहे पूरा ज्ञान न भी प्राप्त हो तो भी तेरा है । इसमें तुझे कुछ संशय नहीं । वैसे ही समस्त संसार चाहे तुझे एक गांव की भी पूरी जानकारी न हो तिस पर भी तेरा है । तेरे राजराजेश्वर होने में कुछ भी संशय नहीं ।

५६९—मैं विशुद्ध हूँ, विमुक्त हूँ, पूर्ण आकाश से भी बढकर पूर्णतम । सर्वव्यापक हूँ । असंख्य ब्रह्माण्ड मुझ में पड़े मैं असंस्पर्श्य हूँ मेरा स्वरूप निर्लिप्त है ।

६००—मुझे दुःख से कोई भय नहीं है । मुझे

समय की जरा भी चिन्ता नहीं । आत्मानन्द वाले को भय और आशंका कैसी ?

६०१—संसार भरके, विज्ञान तत्त्वज्ञान, काव्य और गणित तेरे आत्मा से निकले हैं और निकलते रहेंगे ।

६०२—ऐ खुदा के ढूँढ़ने वालो ! तुमने अपनी खोज से खुदा को लुप्त कर दिया है और उन (प्रयत्न रूपी) लहरों में तुमने उस समुद्र (अनन्त सामर्थ्य) को छूपा दिया है ।

६०३—जिसको हम बुरी समझते हैं वह भला ही है तो क्रोध किस बात का ? ऊं ऊं ऊं ।

६०४—नीचे ऊपर जिस जगह मैं देखता हूँ, दोनों संसार (लोक परलोक) के भीतर मैं केवल अद्वैत तत्त्व के और कुछ नहीं देखता हूँ । यदि मैं ही मैं हूँ तो क्रोध किस पर, रुष्टता कैसी ?

६०५—सब द्वन्द्व भावों को त्याग दिया यथा जन्म, मरण, हर्ष, शोक, मान अपमान, निन्दा, स्तुति, सुख दुःख सबको त्याग दिया ।

६०६—जैसे स्वप्न विषे जन्म मरण आना जाना देखता है परन्तु मिथ्या है तैसे जाग्रत क्रिया भी सर्व मिथ्या है ।

६०७—सिर पर आकाश फट पड़े या बिजली गिर पड़े तो भी भयभीत मत हो ।

६०८—दुःखों से डरना रस्सो को साँप समझकर डरने के बराबर है ।

६०९—परमात्मा की शान्ति भंग करने की भला किसमें सामर्थ्य है । यदि आप सचमुच परमेश्वर हैं तो सारा संसार भी उल्टा होकर टंग जाय आपकी शान्ति कभी भंग नहीं हो सकती ।

६१०—ऐ प्यारे ! जिसे आप जाग्रत समझ रहे हो वह तो घोर सुषुप्ति है ।

६११—यदि स्वप्न में चित्ताकर्षक घटनायें उपस्थित हैं तो तेरे विचार हैं । यदि भयावने रूप विद्यमान हैं तो तेरी करतूत हैं । वैसे ही संसार में चाहे मन भावती घटनायें हों, चाहे विपत्तियाँ और आफतें हों सब तेरी ही बनाई हुई हैं ।

६१२—जैसे स्वप्न विषे द्वैत कलना होती है सो असत् हैं तैसे यह जाग्रत द्वैत भी असत् है ।

६१३—जैसे स्वप्न विषे अपना आप ही द्वैत रूप हो भासता है अरु राग द्वेष उपजता है, जब जागता है तब सब आत्मारूप हो जाता है ।

६१४—वेदान्ती दुनियाँ में हरएक वस्तु को अपनी

ही रचना के समान भोगता है ।

६१५—धर्मात्मा वही है जो हृदय को हिला देने वाले अवसरों पर चित्त को वश में रखे, शोक और क्रोध को प्रवेश न पाने दे ।

६१६—बिगड़े तब जब होय कुछ गिगड़न
वाली शय ।

अकाल अछेद्य अभंग को कौन शकस का
भय ॥

कौन शकस का भय बुद्धि यह जिसने पाई ।
तिसके ढिग दिलगीरी, नहीं कदाचित्
आई ॥

६१७—काटने मारने वाला भी अपना ही अंग
है । भय मात्र हमारी कल्पना की उपज है ।

६१८—जैसे स्वप्न विषे चेष्टा होती है सो पास
बैठे को नहीं भासती ताते है नहीं । जो कुछ द्वैत
भासता है सो भ्रम मात्र है । जो कुछ हुआ होता तो
ज्ञानी को भी प्रत्यक्ष होता सो ज्ञान काल विषे नहीं
भासता ताते भ्रम मात्र है ।

६१९—जैसे स्वप्न विषे द्रष्टा ही दृश्य रूप होता
है । तैसे जाग्रत दृश्यरूप होकर आत्मा ही स्थित है ।

६२०—समस्त शरीर मैं स्वयं हूं या सब मेरा

अपना आप है तो फिर मैं क्यों न अपनी ही भांति सबसे प्रीति करूँ ? सब शरीर मेरे हैं केवल एक शरीर को अपना मानना भूठ बोलना है ।

६२१—मैं स्वयं ही कहता हूँ और मैं ही सुनता हूँ मेरे सिवाय दोनों लोकों में कोई नहीं है ।

६२२—जैसे स्वप्न विषे जगत भासता है सो सब आकाश रूप होता है, परन्तु निद्रा दोष करिके पिंडाकार भासता है मैं तुम शब्द कोई नहीं ।

६२३—अविश्वास और धोखे भरा हुआ संसार वास्तविक सदाचारी सत्यनिष्ठ साधक का कुछ भी बुरा नहीं कर सकता ।

६२४—सच्चा वैराग तो संसार के इस दीखने वाले स्वरूप का सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्मा का नित्यभाव प्रतीत होने में है ।

६२५—सृष्टि अवस्था में भी जगत से हमारा सम्बन्ध छूट जाता है । जागे तो जगत, नहीं तो कुछ भी नहीं ।

६२६—सब जगत परमात्मा में है । परमात्मा मुझ में है तो महात्मा बड़ा हुआ परमात्मा से ।

६२७—जो वृत्ति आत्मस्वरूप में लय होतो हैं, उसे सत्संग, स्वाध्याय या अन्य किसी भी काम के लिये बाहर नहीं निकालना चाहिये ।

६२८—अज्ञानियों को जो वस्तु जगतरूप दीखती है वही ज्ञानी को ब्रह्मरूप दिखाई देती है ।

६२९—जिधर देखता हूँ, जहाँ जहाँ देखता हूँ ।

मैं अपनी ही ताव और शाँ देखता हूँ ।

६३०—जो सत्य मार्ग पर विचरण करता है उसका कोई भी बाल बाँका नहीं कर सकता ।

६३१—जो आने वाले कल की चिन्ता किये बिना प्रभु में रत रहता है वही सहनशील है ।

६३२—जबकि मनुष्य देवदार, चीड़ आदि के कानन में अपने आप को उनसे अलग समझता हुआ निर्द्वन्द्व विचरता है उसी प्रकार जब वह व्यक्ति शहरों की हलचल में निर्द्वन्द्व घूमता है । जो अपने आप शरीर के साथ तादात्म्य न होता हुआ अपने शरीर को उस जगल का केवल एक पेड़ समझ लेता है । उसके लिये सारी सृष्टि आनन्द का उद्यान बन जाता है ।

६३३—सोने से पहले जब आँख बन्द होने लगे, दीपहर हो रात्रि हो, तब अपने मन में ऐसा निश्चय करो कि तुम अपने जागने पर वेदान्त की सत्य की साक्षात् मूर्ति के रूप में प्रकट होगे । जब तुम जागो तब अन्य कोई काम करने के पहले अपने अन्तःकरण में पुनः उस संकल्प का चित्र खींचो जो सोने के पहले

किया था । जब भी सम्भव हो मन ही मन या जोर से ओंम ओंम गाओ और गुनगुनाओ ।

६३४—अशुभ का विरोध न करो । सदा शान्त रहो और जो कुछ सामने से आवे प्रसन्नता से उसका स्वागत करो । फिर वह चाहे तुम्हारी इच्छा की धारा के विपरीत ही क्यों न जाये । फिर तुम देखोगे कि प्रत्यक्ष बुराई भलाई में बदल जाती है ।

६३५—अपने आपको सदैव पूर्ण शान्त और आनंद मग्न रखो । चाहे जैसी घटना हो उसमें व्याघात नहीं होना चाहिये । भूख प्यास, रोग दुःख, अपमान, लज्जा और मृत्यु । सदैव प्रसन्नचित्त और शान्त रहो, क्योंकि तुम तो परमात्मा हो, परम तत्त्व हो ।

६३६—यदि तुम अपनी वास्तविक आत्मा के राजसिंहासन पर बैठने के लिये तत्पर हो जाओ तो संसार, उसके निवासी, उसके सम्बन्ध सभी कुछ न जाने कहां लोप हो जायेंगे ।

६३७—पृथ्वी पर के सभी पदार्थों से एकदम राग तोड़ दो, याने पृथ्वी से ही राग हटा दो । (सम्पूर्ण पृथ्वी से ही राग हटा दो ।)

६३८—जो अपने प्राणों की रक्षा करेगा वह उनसे हाथ धो बैठेगा । जो प्राणों को उत्सर्ग करेगा वह

अमर हो जायगा ।

६३६—जब तक मनुष्य चिन्ताओं और आमाद की भावनाओं से उद्विग्न रहता है इच्छाओं और कामनाओं का भूत उसे चैन नहीं लेने देता, तब तक बुद्धि का चमत्कार प्रकट नहीं होता, वह सांकल से जकड़ी हुई हिलडुल नहीं सकती । चिन्ताओं और कामनाओं के शान्त होने पर ही उस स्वतंत्र वायु मंडल का जन्म होता है, जिसमें बुद्धि को खिलने का अवसर मिलता है । पंच भौतिक बंधन कट जाते हैं और शुद्ध आत्मा अपने प्रकाश में चमकने लगता है ।

६४६—ओ दंड की भीति से डरने वाले अभियुक्त ! यदि तू उस समय भी जब न्यायाधीश अपने आसन से तुझे दण्डित करने वाला है, केवल एक क्षण के लिये उस परमानन्द में डूब जाय तो न्यायाधीश अपना निर्णय भूले बिना नहीं रह सकता, फिर लिखेगा वही जो परमात्मा के साथ तेरी नूतन स्थिति के अनुकूल होगा ।

६४१—दुःखी मनुष्य को चुपचाप अपना दुःख भोग लेना चाहिए । बाहर धुआं उड़ाने से क्या लाभ ? भीतर ही भीतर जब तक धुआं प्रकाश में परिणत न हो जाय तब तक किसी से कुछ कहना

सुनना व्यर्थ है, और धुएं के बाद अग्नि अवश्य जल उठेगी यह प्रकृति का नियम है ।

६४२—सुदृढ़ अचल संकल्प शक्ति के आगे बाधाएँ ऐसे भागती हैं जैसे आँधी के आगे बादल ।

६४३—भय को हृदय में स्थान मत दो । भूतकाल के पीछे मत उदास हो, भविष्य की चिन्ता मत करो—वर्तमान में, प्रत्यक्ष वर्तमान में काम करो, इस प्रकार की भावना तुम्हें हर एक परिस्थिति में प्रसन्न रखेगी ।

६४४—मेरे पहले था ही नहीं कहीं जगत । वह सब मेरी सृष्टि है ।

६४५—तुम सदैव भीतर का ध्यान रखो । पहले हम भीतर गिरते हैं और फिर बाहर । बाह्य पतन तो केवल परिणाम है ।

६४६—बुराई का प्रतिरोध न करो । दाता के उत्साह के साथ सभी घटनाओं का स्वागत करो । महान आत्माएँ कभी, कदापि अस्थिर चित्त नहीं होतीं ।

६४७—यह सदा ध्यान रहे कि हर समय सदा शान्त, स्थिर और आत्मनिष्ठ रहना तुम्हारा सर्व प्रथम कर्तव्य है । ऊपर से जो बातें तुम्हें बाधा और विलम्ब डालने वाली प्रतीत होती हैं वे वास्तव में तुम्हारी

आन्तरिक शक्ति और पवित्रता को बढ़ाने वाली हैं ।

६४८—स्वर्ग का साम्राज्य केवल तुम्हारे अन्तस्तल में है । पुस्तकों में, मन्दिरों में, पीर पैगम्बरों और महात्माओं में आनन्द की खोज करना व्यर्थ है, बिल्कुल व्यर्थ है ।

६४९—शुद्ध आत्मा को. जिसने सम्पत्ति का भाव और इच्छा की लालसा हृदय से दूर कर दी है, ऐसी शुद्ध आत्मा को भय, संकट अथवा कठिनाई की आशंका कैसे हो सकती है ।

६५०—हमारे वक्षस्थल में 'मैं' का घुन लगा हुआ है । उसे परे फेंक दो और सारा संसार तुम्हारे सामने नत मस्तक होगा ।

६५१—शकले इंसों में खुदा था मुझे मालूम न था ।

हक से नाहक मैं जुदा था, मुझे मालूम
न था ॥

६५२—कह रहा है आसमां यह समां कुछ भी नहीं ।

रोती है शबनम कि नैरगे जहाँ कुछ भी नहीं । १।

जिनके महलों में हजारों रंग के फानूस थे ।

भाड़ उनको कब्र पर है और निशां कुछ भी
नहीं ॥ २॥

जिनकी नौबत की सदा से गूँजते थे आसमां ।

दम बखुद है कब्र में अब हूं न हां कुछ भी
नहीं ॥३॥

तख्त वालों का पता देते हैं तख्ते गौर के ।
खोज मिलता तक नहीं वादे अजां कुछ भी
नहीं ॥४॥

६५३—रन वन आपत्ति विपत्ति में वृथा डरे
जन कोय ।

जो रक्षक जननी जठर, सो हरि गये न
सोय ॥१॥

६५४—जो कुछ तुम देखते हो वह तुम्हीं हो कोई
शक्ति इसे रोक नहीं सकती ।

६५५—संसार उसको सहकारिता करने को बाध्य
है जो सम्पूर्ण संसार से अपनी एकता अनुभव करता
है । सबसे एकता प्रत्यक्ष अनुभव से हमें निश्चल
निश्चितता का जीवन प्राप्त होता है ।

६५६—यदि थोड़ा बहुत अनुभव प्राप्त कर चुके
हो तो अपने ही दिल से पूछो ऐसा है कि नहीं ?
शुद्धि और सच्चाई, विश्वास और भलाई, इस्लाम और
अकबर-दिलो से भरा हुआ मनुष्य उन्नति का भंडा
हाथ में लिये जब कदम बढ़ाता है तो किसकी मजाल
है कि आगे से हिल न जाय ? अगर तुम्हारे दिल में

विश्वास और सच्चाई भरी है तो तुम्हारी दृष्टि लोहे के सिन्तुन चीर सकती है, तुम्हारे ख्याल के ठोकर से पहाड़ों के पहाड़ चकानाचूर हो सकते हैं। आगे से हट जाओ दुनियां के बादशाहो ! यह शाहे दिल तशरीफ ला रहा है। जितनी पवित्रता और विश्वास हृदय में अधिक गहरा होगा उतने ही हमारे काम अधिक प्रकाश में आवेंगे।

६५७—जब तुम संसार के प्रलोभनों और धमकियों से नहीं हिलते तो तुम संसार को अवश्य हिला दोगे। इसमें जो सन्देह करता है वह काफिर है।

६५८—वेदान्त में कार्य का अर्थ है सदैव विश्व से समतल रहना तथा वास्तविक आत्मा से एक स्वर होकर स्फुरण करना। वास्तविक स्वरूप से ऐसी निष्काम एकता, जो वेदान्त के अनुसार असली कार्य है मूर्खों द्वारा प्रायः अकार्य या आलस्य की उपाधि पाता है

६५९—पूर्ण स्वास्थ्य और प्रबल उद्योग का रहस्य इसी बात में है कि आप अपने चित्त को प्रफुल्लित और प्रसन्न रखें, सदा परेशानी और जल्दबाजी से परे और सदैव किसी भी प्रकार के भय या चिन्ता से मुक्त रखें। प्रसन्न रहना ही जीवन का प्रमुख

उद्देश्य है ।

६६०—तू आप मालिक खुद खुदा क्यों भटकता दिन रैन वे ।

६६१—जैसे बंध्या स्त्री स्वप्न विषे अपने पुत्र को देखती है सो अनहोता भ्रम उसको भासता है । तैसे अज्ञानी को अनहोता जगत सत्य होकर भासता है ।

६६२—जैसे समुद्र तरंग रूप हो भासता है तैसे चेतन जगत रूप हो भासता है जैसे स्वप्न विषे शुद्ध संवित् पहाड़, नदियां रूप हो भासती हैं तैसे चिन्मात्र सत्ता जगतरूप हो भासती है ।

६६३—मैं ब्रह्म हूं । सारा ब्रह्माण्ड मेरा अपना ही अंग है ।

६६४—स्वप्न में दीखे जीवजन्तु, वृक्ष, पत्थर प्रभृति की सत्ता कल्पना से भिन्न कुछ नहीं है । ये सब पदार्थ मनोमय हैं । इनका मन ही में उदय, स्थिति और लय होता है । और जब तक स्वप्नावस्था विद्यमान रहती है, उस समय तक ये सब पदार्थ जड़ वस्तु ही के रूप में प्रतीयमान होते हैं । स्वप्न कल्पित वस्तु या व्यक्ति भावों की क्रिया भो होती है । स्वप्न में दीखे जीवगण इन सब भावों को ग्रहण करते हैं, ऐसा अनुभव होता है । स्वप्न दृष्ट व्याघ्रादि का स्रष्टा मन उपादान मन

स्वकल्पित व्याघ्र के देखने से मन ही भीत होता है । सृष्टि, स्थिति, लय, कर्त्ता, क्रिया, कर्म सब कुछ ही मनोमय है । अथवा मन वास्तविक व्याघ्ररूप धारण नहीं करता । ये जगत के सब विषय भी तद्रूप ब्रह्ममय हैं अथवा ब्रह्म जगद्रूप धारण नहीं करता ।

६६५—यह जगत मिथ्या है । मेरा शरीर भी मिथ्या है । इसके सुख निमित्त यत्न करना व्यर्थ है ।

६६६—सब प्रकार का दुःख, कष्ट, शोक, चिन्ता भ्रम मात्र है । जब दुःखकर विषय सामने आवे तब भट उसे भ्रम मात्र जानकर टाल दे ।

६६७—जो कुछ तू देखता है वही तू है ।

६६८—मैं यही परिवर्तनशील जगत हूँ । और मैं ही अपरिणामी निर्गुण ब्रह्म हूँ । नित्यपूर्ण नित्यानन्द मय हूँ ।

६६९—तुम्हारे भीतर अशुभ न रहने पर अशुभ किस तरह देखोगे ? तुम्हारे भीतर ही यदि चोर नहीं है तो तुम किस प्रकार चोर को देखोगे ?

६७०—तमाम विश्व मेरे उदर में हैं बाहर में कुछ नहीं है ।

६७१—समुद्र की तरंगों की ओर देखो, एक भी तरंग समुद्र से पृथक् नहीं है । तब फिर तरंग पृथक्

क्यों प्रतीत होता है । नाम रूप ने तरंग की आकृति और हमने जो तरंग नाम इसे दे दिया है उसी ने उसे समुद्र से पृथक् कर दिया है । नाम रूप के नष्ट हो जाने पर वह समुद्र था, वही रह जाता है । समुद्र और तरंग के बीच कौन प्रभेद कर सकता है । अतएव यह समुद्र जगत एक रूप हुआ । जितना भी पार्थक्य है नाम रूप के कारण वास्तव में 'मैं' अथवा 'तुम' नाम का कुछ नहीं है । सब एक है चाहे कहो सभी मैं हूं या सभी तुम हो किन्तु द्वैत ज्ञान बिल्कुल मिथ्या है ।

६७२—यदि संसार के नर नारियों के लाखों भाग का एक भाग भी बिल्कुल चुप रहकर एक क्षण के लिये भी कहे "तुम सभी ईश्वर हो, हे मानवगण, हे पशुओ, हे सभी प्रकार के जीवित प्राणियों । तुम सभी एक जीवन्त ईश्वर के प्रकाश हो" तो आधे घंटे के अन्दर ही समस्त जगत का परिवर्तन हो जायगा । उस समय चारों ओर घृणा का बीज न फैलाकर, ईर्ष्या और असत चिन्ता का प्रवाह न फैलाकर सभी देशों के लोग सोचेंगे कि सभी 'वह' है । जो कुछ तुम देख रहे हो या अनुभव कर रहे हो वह सब वही है ।

६७३—अतएव वेदान्त का सिद्धान्त है कि हम बद्ध नहीं हैं अपितु नित्यमुक्त हैं । इतना ही नहीं

बल्कि यह सोचना भी कि हम बद्ध हैं अनिष्टकर है भ्रम है । जहां तुमने कहा कि बद्ध हूं, दुर्बल हूं, असहाय हूं, तभी तुम्हारा दुर्भाग्य आरम्भ हो गया तुमने अपने पैरों में और एक शृंखला डाल ली । इसलिये ऐसी बात कभी न कहना और न इस प्रकार कभी सोचना ही ।

६७४—मैं राजाओं का भी राजा हूं मुझ से बढ़कर बड़ा राजा कोई नहीं है । मैं देवताओं का भी देवता हूं मुझ से बढ़कर कोई देवता नहीं है ।

६७५—तुम सभी ईश्वर हो, ईश्वर को न देखकर मनुष्य को देखते हो ? अतएव यदि तुममें साहस हो तो इसी विश्वास पर खड़े होकर उसी के अनुसार जीवन को बनाओ । यदि कोई व्यक्ति तुम्हारा गला काटे तो उसको मना मत करना क्योंकि तुम तो स्वयं ही अपना गला काट रहे हो ।

६७६—वेदान्त तुम्हें बताता है कि यह संसार शीश महल के समान है और ये सब शरीर विभिन्न दर्पणों के तुल्य हैं, और तुम्हारी सच्ची आत्मा या निज स्वरूप का सब ओर ठीक वैसे ही प्रतिबिम्ब पड़ता है जैसे कि कुत्ता अपना प्रतिबिम्ब चारों ओर दिवालों में देख रहा था । इसी तरह एक अनन्त आत्मा, एक अनन्त

ईश, एक अनन्त शक्ति विभिन्न दर्पणों से अपना प्रतिबिम्ब डालती है। एक अनन्त राम ही इन सब शरीरों द्वारा प्रतिबिम्बित हो रहा है। मूर्ख लोग कुत्तों को तरह इस संसार में आते और कहते हैं “वह मनुष्य मुझे खा लेगा, अमुक आदमी मेरे टुकड़े-२ कर डालेगा, मुझे मिटा देगा” इस ईर्ष्या और भय का क्या कारण है ? कुत्ते की अज्ञानता अथवा कुत्ते की सी अज्ञानता इस संसार के यावत् द्वेष और भय का कारण है। कृपया इस संसार में शोश महल के मालिक की तरह आइये और आप शोश महल के मालिक होंगे। आप सम्पूर्ण संसार के स्वामी होंगे। आप जब अपने प्रति-द्वन्द्वियों, भाइयों और शत्रुओं को आगे बढ़ते देखेंगे, आप को हर्ष होगा। कहीं भी किसी प्रकार का गौरव देखकर आपको प्रसन्नता होगी। आप इस संसार को स्वर्ग बना देंगे।

६७७—यदि सैकड़ों सूर्य पृथ्वी पर गिर पड़ें, सैकड़ों चन्द्र चूर हो जायें। एक के बाद एक ब्रह्माण्ड विनष्ट होते चले जायें तो तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है। शिला की भांति अटल रहो। तुम अविनाशी हो फिर भय कैसा ?

६७८—अनुभव करो कि वास्तविक आत्मा सारी

चिन्ता, सारे भय से परे है, सब मुसीबतों और दुःखों से दूर है । कोई आपको हानि नहीं पहुँचा सकता, कोई आपको चोट नहीं पहुँचा सकता ।

६७६—जो सम्मुख आये, उसे भगवद्रूप मानो और उसके अनुरूप उसकी सेवा करो । संसार की चिन्ता में पड़ना तुम्हारा काम नहीं है ।

६८०—मृत्यु दो बार नहीं आती और जब आने को होती है उससे पहले भी नहीं आती ।

६८१—जब आप स्त्री में स्त्री न देखकर उस में अपने इष्टदेव, अपने प्रियतम प्यारे ईश्वर को देखते हैं तब निस्सन्देह आप स्वयं ईश्वर रूप हो जाते हैं ।

६८२—चाहे तुम बड़े हो या छोटे, चाहे उच्च श्रेणी के हो या निम्न श्रेणी के इसकी रत्तीभर परवाह मत करो । अपने पाँवों पर डटकर खड़े हो । बड़े-२ राजे और राष्ट्रपति तुम्हारे चाकर हैं ।

६८३—महात्मा वह है जिसकी विशाल सहानुभूति और मातृवत् हृदय सब पापियों को और दीन दुःखियों को भी प्रेम से अपने अंक में स्थान देता है ।

६८४—असल में डरने की बात ही नहीं । चारों ओर, आगे और पीछे, भूत में और भविष्य में सारे देश में एक ही परमात्मा विद्यमान है और वह मेरा

ही अपना आप है और मुझे डर किससे हो ?

६८५—हटो, ऐ संकल्पो और इच्छाओ हटो । तुम संसार की क्षण-भंगुर प्रशंसा और धन से सम्बन्ध रखती हो । शरीर चाहे जिस दशा में रहे मुझे उससे कोई वास्ता नहीं । सारे शरीर मेरे हैं ।

६८६—जब ईश्वर दृष्टि से देखा जाता है, तब सारा संसार सौन्दर्य का प्रवाह, हर्ष का प्रादुर्भाव और आनन्द का स्रोत बन जाता है ।

६८७—आप अपनी शक्ति को उच्चाति उच्च विषयों की ओर लगने दीजिये, जिससे आपके पास उन बातों को सोचने का समय ही न रहे जिससे कामुकता की गंध आती है ।

६८८—भय से और दण्ड से कभी पाप बन्द नहीं होते ।

६८९—अपराधों के अनेक नाम हैं, जैसे मातृ-हत्या नर हत्या इत्यादि ? परन्तु प्रत्येक प्राणी में ईश्वर को अमुभव न करके आप ईश्वर हत्या अथवा देव हत्या का सब से महान अपराध करते हैं ।

६९०—लोग चाहे आप से भिन्न मत रखें, चाहे आपको नाना प्रकार की कठिनाइयों में डालें और चाहे आपको बदनाम करें पर उनकी कृपा और कोप

उनकी धमकियों, आश्वासनों और प्रतिज्ञाओं के होते हुए भी आपके मन रूपी सरोवर से दिव्य पवित्र से पवित्र ताजा जल निरन्तर बहना चाहिए । आप के अन्दर से अमृत का प्रवाह बहना चाहिये, जिस से आपके लिए बुरी बातों का सोचना उसी प्रकार असम्भव हो जाय जिस प्रकार शुद्ध और ताजा जल स्रोत पीने वाले को विष नहीं दे सकता ।

६९१—यदि सत्य के लिए आपको अपना शरीर त्यागना पड़े तो त्याग दीजिए । यही अन्तिम ममता है जिसे हमें तोड़ना होगा ।

६९२—क्या तुम्हें अपने ब्रह्मत्व के विषय में सन्देह है ? अपने हृदय में ऐसा सन्देह रखने की अपेक्षा गोली मार लेना कहीं श्रेष्ठ है ।

६९३—वह कौन है जो आप के सम्मुख है, वह कौन है जो सीधा आपकी ओर देखता है, जब आप किसी मनुष्य की ओर निगाह उठाते हैं ? वही अन्तर वाला परमात्मा है ।

६९४—वेदान्त दर्शन के प्रचार का सर्वश्रेष्ठ मार्ग है इसे अपने आचरण में लाना । अन्य कोई भी राज-मार्ग नहीं है ।

६९५—जिस समय आप अपने को एक ऐसी विचित्र

अकथनीय भावना में पहुँचा देते हैं कि जो मैं और तू (द्रष्टा और दृश्य) दोनों से ऊँची है उसी समय आप वास्तव में मुझ ब्रह्म को पाते हैं। वेदान्त आपको यही रहस्य बतलाता है।

६९६—तुम एक ही साथ इन्द्रियों के दास और विश्व के स्वामी नहीं बन सकते।

६९७—निलिप्त साक्षी के रूप में सब भ्रंशों से मुक्त होकर कर्म करो। सदा स्वतंत्र और निलिप्त रहो।

६९८—संसार मनुष्य के लिए निरन्तर कर्म और निरन्तर परिश्रम हो सबसे महान योग है। जब आप अपनी दृष्टि से काम नहीं करते तभी संसार के लिए आप सब से महान कार्यकर्त्ता बन जाते हैं।

६९९—शब्दों की अपेक्षा कर्म अधिक जोर से बोलते हैं। भाग्य का दूसरा नाम विचार है।

७००—वेदान्त के अनुसार समस्त संसार आप ही की रचना है, आप ही का संकल्प है तो आप अपने को निर्भय स्वावलम्बी परमात्मा का अवतार क्यों नहीं मानते? आप अपने को तुच्छ दीन और हीन पापी क्यों समझते हो।

७०१—ओ धार्मिक वाद-विवाद और दार्शनिक तर्क वितर्क भाग जाओ। मैं जानता हूँ कि सुन्दरता ही प्रेम है और प्रेम ही सुन्दरता है और दोनों ही त्याग है।

७०२—जरा ऊं का गान करो, जरा ऊं का उच्चारण करो और उच्चारण करते समय अपना सम्पूर्ण हृदय उस में लगा दो, अपनी सारी शक्तियां उसमें जुटा दो, अपना सारा चित्त उसमें लगा दो, ऐसा साक्षात् करने में ही अपना सारा बल लगा दो ।

७०३—ऊं का उच्चारण करते समय यदि हो सके तो अपनी समस्त श्रुटियों और सारे प्रलोभनों को अपने मन के सामने चित्रित करो । फिर उन्हें अपने पाँवों तले कुचल डालो, और मसल डालो, उनसे ऊपर उठो और विजयी होकर उनसे बाहर निकलो ।

७०४—पूर्ण वेग से वायु को नथुनों के द्वारा भीतर खींचो और मुंह से बाहर निकालो । इस क्रिया का अभ्यास दृढ़ता पूर्वक करो और आप देखेंगे कि आप को यह कितनी अद्भुत प्रसन्नता देता है ।

७०५—श्वांस लो, खूब श्वांस—खींचो । गहरी साँस लेने से कोष्ठ के नीचे के हिस्से में वायु भर जायगी और भीतर की सारी नली में फैल जायगी । इस प्रकार से आप तुरन्त ही निराशा से मुक्त हो जायेंगे और अपनी शक्तियों का सर्वोत्तम उपयोग कर सकेंगे ।

७०६—वेदान्तिक धर्म का निचोड़ केवल एक ही आदेश में संग्रहीत किया जा सकता है । अपने आप

को पूर्ण शान्त और आनन्द मग्न रखो, चाहे जैसी घटना हो, उसमें व्याघात न होना चाहिए । यथा भूख, प्यास, रोग दुःख, अपमान-लज्जा और मृत्यु । सदैव प्रसन्न चित्त और शान्त रहो, क्योंकि तुम तो परमात्मा हो जिसे तुम कभी नहीं भूल सकते जिसकी तुम कदापि अवहेलना नहीं कर सकते ।

७०७-ऐ तूफान ! उठ और जोर शोर से आंधी पानी वर्षा कर ! ओ आनन्द के महासागर पृथ्वी और आकाश को तोड़ फोड़कर एक कर दे । गम्भीर से गम्भीर गोता लगा, जिससे विचार और चिन्तायें छिन्न-भिन्न हो जायं, जिससे कहीं उनका पता ही न चले । आओ अपने हृदय से द्वैत की भावना को चुन-र कर निकाल डालें, अपने ससीम अस्तित्व की दीवारों को जड़ से ढहा दें, जिससे आनन्द का महासागर प्रत्यक्ष लहराने लगे । आओ, प्रेम की मादकता, जल्दी चढ़ो, प्रेम की मस्ती ! तुरन्त हमें डुबो दो, विलम्ब करने से क्या प्रयोजन ! मेरा मन अब एक पल एक निमिष के लिए इस दुनियादारी में फंसना नहीं चाहता तो इस मन को तो अपने में उस प्यारे प्रभु में डूब जाने दो, शीघ्रता करो ? और उसे जलते हुए तन्दूर की अग्नि से बचालो बचालो । उस में और मेरे तू

और तेरे के भमेले में आग लगा दो । आशाओं और आशंकाओं को उतार फेंको । टुकड़े-२ करके गला दो, द्वैत की भावना जड़ से उड़ा दो, हवा में काफूर हो जाय । कहां सिर कहां पैर, कहीं कुछ पता न रहे । रोटी नहीं, न सही । आश्रय और विश्राम नहीं, न सही । पर मुझे चाहिये, प्रेम की, इस दिव्य प्रेम की प्यास और तड़प ।

७०८—अपने ईश्वरत्व, अपने ब्रह्मत्व का साक्षात् कीजिये और सब काम अपने आप पूरे हो जायेंगे ।

७०९—दुनियां की तू-तू मैं-मैं में आग लगा दो, समस्त भय और आशा को नष्ट कर दो, भेद भाव को निकाल दो, सिर और पैर के भेद को तिलांजलि दे दो ।

७१०—बाहर दिखाई देने वाली वस्तुयें सब एक साथ जुड़ी हुई हैं । एक वस्तु का बाह्यतः त्याग करते समय जानी अपने हृदय में उसे अन्य सब कुछ को त्यागने का चिन्ह और प्रतीक बना लेता है ।

७११—आत्मा से बाहर मत भटको, अपने ही केन्द्र में स्थित रहो अन्यथा तुम गिर पड़ोगे । अपने आप में पूर्ण विश्वास रखो । अपने केन्द्र पर डटे रहो । कोई चीज तुम्हें टस से मस नहीं कर सकती ।

७१२—अकबर-दिल्ली, इसलाम वा विश्वास यदि

राई के दाने भर भी हो तो पहाड़ों को हिला सकता है । सिवा परमात्मा के और कुछ नहीं है ।

७१३—विपत्ति में धैर्य न खोकर जो लोग भगवत् कृपा के विश्वास पर डटे रहते हैं और सत्य के पथ से जरा भी नहीं डिगते, उनकी विपत्ति बहुत ही शीघ्र महान सम्पत्ति के रूप में बदल जाती है और क्लेश तथा अशान्ति तो उन्हें किसी अवस्था में भी नहीं होते ।

७१४—किसी से कुछ भी माँगो तो लोग तुम्हें देने के लिए तुम्हारे पोछे-२ फिरेंगे । मान न चाहोगे मान मिलेगा । स्वर्ग न चाहोगे, स्वर्ग के दूत तुम्हारे लिये विमान लेकर आवेंगे इतने पर भी तुम इन्हें स्वीकार न करोगे तो भगवान तुम्हें अपने हृदय से लगा लेंगे ।

७१५—उपदेशक, वक्ता, सुधारक, गुरु, पथप्रदर्शक बनने की कामना मत करो ।

७१६—अपने को सदा आनन्द में डुबाये रखो, दुःख की कल्पना ही तुम्हें दुःख देती है ।

७१७—सदा शान्त रहो, निर्विकार रहो, सम रहने की चेष्टा करो । जगत के खेल से अपने को प्रभावित मत होने दो, खेल को खेल ही समझो । तुम सदा सुखी रहोगे फिर न कुछ बढ़ाने की इच्छा होगी और न घटने पर दुःख होगा ।

७१८—मोह की चादर फाड़ने का प्रधान साधन है आत्म शक्ति में विश्वास, आत्मबल का निश्चय । विश्वास की ज्योति से मोहतम का नाश तत्काल ही हो सकता है । तुम विश्वास करो, निश्चय करो कि तुम्हारे अन्दर अनन्त शक्ति है । मन इन्द्रियां सब तुम्हारे सेवक हैं । तुम्हारी अनुमति के बिना उनमें जरा भी हिलने डुलने का सामर्थ्य नहीं है ।

७१९—याद रखो—निश्चय, श्रद्धा, विश्वास और आत्मस्वरूप को स्मृति ही तुम्हारी आत्मा की अनन्त शक्ति को प्रकट करने वाले चार महा द्वार हैं । इनकी शरणा ग्रहण करो इनका आश्रय लो ।

७२०—सूखता को छोड़ कर हर हालत में आनन्द का अनुभव करो । तुम्हें दुःख आ ही नहीं सकता । तुम दुःख को ग्रहण करते हो इसीसे दुःख आता है । ग्रहण करना छोड़ दो फिर कोई भी दुःख तुम्हारे पास तक नहीं फटकेगा ।

७२१—जिसके जीवन का लक्ष्य भगवान होते हैं और जो इस लक्ष्य को दृढ़ता से बनाये रखता है, जगत की विपत्तियां उसके मार्ग में रोड़े नहीं अटका सकतीं । भगवत कृपा से उसका पथ निष्कण्टक हो जाता है । कहीं कांटे रहते भी हैं तो उसका पैर उन

पर टिकते, वे मखमल की तारों की तरह कोमल हो जाते हैं। कोई भी विघ्न उसके सामने आकर विघ्न रूप नहीं रहते वरन उल्टे उसके सहायक बन जाते हैं।

७२२—जिसको सर्वब्रह्म की बुद्धि भई है, तिसको संसार बुद्धि नहीं, अह जिसकी संसार बुद्धि है, तिसको ब्रह्म बुद्धि नहीं।

७२३—मैं ही सर्वव्यापी अनन्त पुरुष हूँ। मैं ही सबके भीतर बैठकर कार्य कर रहा हूँ। सब पेरों के द्वारा चल रहा हूँ, सब मुखों से मैं ही बातचीत कर रहा हूँ। सब नासिका के द्वारा श्वास प्रश्वास के कार्य को मैं ही चला रहा हूँ। सब इन्द्रियों के द्वारा मैं ही सब व्यापारों को चला रहा हूँ।

७२४—अपनी सच्ची आत्मा को, प्रभुओं के प्रभु को इस संसार के मोहक मुखों के बदले मत वेचो।

७२५—जैसे आप सोचते हैं वैसे ही बन जाते हैं। अपने आपको पापी कहो तो अवश्य ही पापी बन जाओगे, अपने को मूर्ख कहो तो अवश्य ही मूर्ख हो जाओगे, अपने को निर्बल कहो, तो इस संसार में कोई ऐसी शक्ति नहीं है जो आपको बलवान बना सकें। अपने सर्व शक्तित्व को अनुभव करो तो आप सर्व शक्तिमान हो जाते हैं।

७२६—सच्ची विद्या उस समय आरम्भ होती है, जब मनुष्य समस्त बाहरी सहारों को छोड़कर अपनी अन्तरंग अनन्त की ओर ध्यान देता है, उस समय मानो मौलिक ज्ञान का एक स्वाभाविक स्रोत बन जाता है । अथवा महान नवीन-२ विचारों का चश्मा बन जाता है ।

७२७—अपने दृष्टि बिन्दु को बिल्कुल बदल डालिये । हर एक चीज को ईश्वर रूप ब्रह्म रूप समझिये । ईश्वर और सृष्टि का जो सम्बन्ध है, वही आपका संसार का सम्बन्ध होना चाहिये ।

७२८—धार्मिक होने के लिये भी पहले यह प्रतिज्ञा आवश्यक है । मैं अपना रास्ता स्वयं ढूँढ़ लूँगा । सत्य को जानूँगा अथवा प्राण दे दूँगा ।

७२९—तुम वीर की तरह खड़े होकर कहो “मृत्यु तुझ से मैं जरा भी नहीं डरता, तुम व्यर्थ क्यों मुझे डराने की चेष्टा कर रही है ।” जब तुम जान जाओगे कि तुम पर मृत्यु का कोई प्रभाव नहीं है । तभी तुम मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकोगे ।

७३०—अस्त होते या उदय होते सूर्य की ओर चलिये, नदियों के तट पर विचरिये अथवा ऐसी जगह पर टहलिये जहां शीतल वायु अठखेलियां करती हो,

आप अपने को प्रकृति के साथ एक ताल समस्त विश्व के साथ एक स्वर पायेंगे ।

७३१—ज्योंही आप इच्छा से ऊपर उठते हो, त्योंही आपका इच्छित पदार्थ आपको ढूँढ़ने लग जाता है, अतः पदार्थ से ऊपर उठो और वह तुम्हें ढूँढ़ेगा—यही नियम है । ज्योंही आप प्रार्थी, इच्छुक, याचक अथवा भिक्षुक का भाव धारण करते हो त्योंही आप परे धकेले जाते हैं । आपको इच्छित पदार्थ नहीं मिलेगा । आप इच्छित पदार्थ नहीं पा सकते ।

७३२—वास्तव में न आपने जन्म लिया है न फिर जन्म लेंगे । आप अनन्त हैं, सर्व व्यापी हैं, नित्य मुक्त, अज और अविनाशी हैं । जन्म मृत्यु का प्रश्न ही गलत है, महा मूर्खतापूर्ण है । मृत्यु हो ही कैसे सकती है जब जन्म ही नहीं हुआ ।

७३३—जहां कहीं भी दो है वहीं भय है, वहीं खतरा है, वहीं द्वन्द्व है, वहीं संघर्ष है । जब सब एक ही है तो किससे घृणा, किससे संघर्ष, जब सब कुछ वहीं है तो आप किससे लड़ेंगे ?

७३४—जब तक आप अनेक देखते हैं तभी तक आप अज्ञान में हैं । “इस बहुत्व पूर्ण जगत में जो एक को देखता है, जो उसे अपने आत्मा के रूप में देखता

है अपना स्वरूप जानना है वही मुक्त है, इसलिये समझ लो कि तुम वही हो, तुम ही जगत के ईश्वर हो । तुम्हें दुर्बल कौन बना सकता है ? तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है ? जगत में तुम्हीं तो एक मात्र सत्ता हो । तुम्हें किसका भय है, खड़े हो जाओ, मुक्त हो जाओ । समझ लो कि जो कोई विचार या शब्द तुम्हें दुर्बल बनाता है वही एक मात्र अशुभ है । मनुष्य को दुर्बल और भयभीत बनाने वाला संसार में जो कुछ भी है वही पाप है । तुम्हीं जगत के ईश्वर हो तुम्हें कौन भयभीत कर सकता है ।

७३५—ये कठिनाइयाँ, ये प्रलोभन, ये रुकावटें, ये प्रयत्न और ये विरोध केवल आपको डराने का यत्न करते हैं । ये आपको डराते और धमकाते हैं । किन्तु वास्तव में हानि नहीं पहुंचाते । यदि तुम उनसे आंखें लड़ाकर उनको आंखें नीची कर सको, उन्हें भयभीत कर सको, तो तुम्हें मालूम होगा कि ये कठिनाइयाँ केवल देखने मात्र की कठिनाइयाँ थीं, कठिनाइयाँ और प्रलोभन केवल मालूम होने भर की कठिनाइयाँ और प्रलोभन थे ।

७३६—यह विचित्र डुनियाँ भी क्या आप ही के हाथ की कारीगरी नहीं है । निस्सन्देह यह आपकी

अपनी ही सृष्टि है । यह समझ लो । यह खूब हृदय-गम कर लो ।

७३७—सब साधारण और असाधारण कामनाओं और अभिलाषाओं को दूर फेंक दो । ऊँ ऊँ रटो । यदि कुछ पल भी आप ऐसा करें तो सिर से पैर तक आपका सारा अस्तित्व ज्योतिर्मय हो जाय । जब आप स्वयं ही प्रकाश हैं तो प्रकाश के लिये प्रर्थना क्यों ? आप तुरन्त प्रकाश हो सकते हैं ।

७३८—आप विचार करें कि किस चीज में आपका चित्त लगा हुआ है । यदि आप नाम या यश की चाह में आसक्त हैं तो उसे दूर कर दीजिये । यदि लोक-प्रियता की इच्छा के मोह जाल में आप उलझे हुए हैं तो उससे अपने को विरक्त कर लीजिये । यदि संसार का हित करने की आकांक्षा और अभिलाषा में आपका अनुराग है तो उसे भी त्याग दीजिये ।

७३९—आप अपना कर्त्तव्य या काम कीजिये पर उसके लिए न तो कोई चिन्ता हो और न इच्छा । अपने काम को करो, अपने काम में सुख अनुभव करो, क्योंकि आपका काम स्वयं सुख या विश्राम है, क्योंकि आपका काम आत्मानुभव का ही दूसरा नाम है । अपने काम में लगे रहिये, क्योंकि काम आपको करना

ही है । काम आपको आत्मानुभव कराता है । किसी दूसरे हेतु से काम न कीजिये । स्वतन्त्र वृत्ति से अपने काम पर आइये । जैसे एक राजकुमार मनोरंजन के लिये फुटबाल या दूसरा कोई खेल खेलने जाता है वैसे ही आप अपने काम पर आइये, क्योंकि सुख या आनंद कर्म के रूप में रहता है । हम अपने को स्वतन्त्र समझें, न कि किसी भी चीज की कैद में ।

७४०—किसी भी डर को अपने पास मत फटकने दो ।

७४१—कोई जिम्मेदारी नहीं, कोई भय नहीं । अच्छा, तुम्हें डर क्यों होता है ? केवल इसलिए कि तुम्हें आशंका रहती है कि कहीं अमुक चीज जाती न रहे, तुम इस मनुष्य से डरते हो, उसी मनुष्य से डरते हो, तुम्हें हँसी का डर है, क्योंकि तुम्हें यश की अभिलाषा है, तुम कीर्ति में आसक्त हो । समस्त भय और चिन्तायें इच्छाओं का परिणाम हैं ।

७४२—इन सब बाह्य विविध नाम रूपों में स्वयं तुम्हीं आविर्भूत हुए हो ।

७४३—असल में डरने की बात ही नहीं । चारों ओर आगे और पीछे भूत और भविष्य में सारे देश में एक ही परमात्मा विद्यमान है, और वह मेरा ही

अपना आप है फिर मुझे डर किससे हो ।

७४४-हटो, ऐ संकल्पो और इच्छाओ हटो !
तुम संसार की क्षण भंगुर प्रशंसा और धन से सम्बन्ध
रखती हो । शरीर चाहे जिस दशा में रहे, मुझे उससे
कोई वास्ता नहीं, सारे शरीर मेरे हैं ।

७४५-यदि देखने में अत्यन्त निकृष्ट (भोंडा)
तीक्ष्ण स्वभाव काला-भौराला व्यक्ति है, तो वह
तुम्हारा ही अपना आप है । इस तथ्य से तुम मुक्त
नहीं । अतः घृणा कैसी ? और यदि कोई सुन्दर
स्वरूप शुक्र समान सृष्टि की शोभा और अति विलास
भरी अप्सरावत् है तो तुम्हारा अपना ही आप है । वह
स्वयं तुम्हीं हो फिर आसक्ति किस से ? मोह
क्यों ? तुम्हारी ज्ञानेन्द्रियां जो उसे अलग दिखाती
हैं, सरासर झूठ बोलने वाली हैं । इनका विश्वास
मत करो । तुम सब शरीरों की जान हो । सब कुछ
तुम हो ।

७४६-मैं सब का द्रष्टा हूं, मेरा द्रष्टा कोई नहीं
है ।

७४७-जिसने जान लिया है कि जगत मिथ्या है
और भ्रम करके प्रतीत होता है, वह फिर दुःखी नहीं
होता है, और न उसमें उसकी आसक्ति होती है,

किन्तु यावत् जगत है उस सब को मिथ्या जानता है । उस मिथ्यात्व के निश्चय का नाम ही जगत नाश है । यद्यपि स्वरूप से कदापि इस का नाश नहीं होता है, किन्तु यह प्रवाह रूप से सदा बना ही रहता है ।

७४८—जब सारा जगत रज्जु में सर्प की तरह कल्पित है और मिथ्या है, तब बंध और मोक्ष पुरुष को कैसे हो सकते हैं ।

७४९—यदि आपको ये सांसारिक बातें नहीं हिला सकतीं तो आप संसार को अवश्य हिला सकते हैं ।

७५०—आपको अपने स्वरूप में लीन होना ही आपको संसार का सम्राट बना देगा । यह सम्राट पद केवल इस संसार का प्राप्त नहीं होगा । वरन् आप का अपना स्वरूप में विश्वास करना आपको समस्त लोक और परलोक का सम्राट बना देगा ।

७५१—परोपकार का उपाय केवल हा हा-हू हू नहीं, वरन् सर्वोत्तम परोपकार अपने आत्मा में लीन होना है । अतएव अपने आपको अपने स्वरूप में लीन करना ही परोपकार करना है ।

७५२—“मैं आत्मा ही हूँ शरीर नहीं हूँ” ऐसा दिन रात अभ्यास करना ही अपने आत्मानन्द का उसकी

आनन्दघन अवस्था में लाना है और यही अभ्यास या पुरुषार्थ आनन्द के प्राप्त करने का ठीक प्रयत्न है ।

७५३—ईश्वर भीतर बैठा है । संसार का काम कभी नहीं बिगड़ेगा ।

७५४—यह संसार मिथ्या है । जो पुरुष इसको सत्य जानता है सो महामूर्ख है । अरु भ्रम विषे भ्रम को देखता है । अरु महा मोह को प्राप्त होता है ।

७५५—हे जनक ! चाहे तुमको महादेव जी आकर उपदेश करें या विष्णु भगवान आकर उपदेश करें या ब्रह्मा जी आकर उपदेश करें तुम को सुख कदापि न होगा । जब विषयों का त्याग करोगे तभी शान्ति और आनन्द को प्राप्त होगे ।

७५६—इस संसार मण्डल में तत्त्ववित ज्ञानी कभी खेद को प्राप्त नहीं होता है । क्योंकि वह जानता है कि मुझ एक करके ही यह सारा जगत व्याप्त हो रहा है । खेद दूसरे से होता है । सो दूसरा उसकी दृष्टि में है नहीं ।

७५७—हजारों में कोई एक पुरुष अन्तर से शान्त चित्त वाला होकर बाहर से मूढ़वत् व्यवहार करता है ।

७५८—यह विश्वास रखो कि तुम्हीं सब कुछ हो ।

महान् कार्य करने के लिए इस धरती पर आये हो । गीदड़ घुड़कियों से भयभीत मत हो जाना नहीं, चाहे वज्र भी गिरे, तो भी निडर हो खड़े हो जाना और कार्य में लग जाना ।

७५६—अतः वीर बनो । पर्वत की भाँति अडिग रहो । क्षुद्र अबोध जीव तुम्हारे विरुद्ध क्या कहते हैं इसकी तनिक भी परवाह मत करो । उपेक्षा, उपेक्षा । पर्वत काय विघ्न बाधाओं में से होते हुए ही सारे महान् कार्य होते हैं । काम और कांचन में जकड़े हुए मोहान्ध व्यक्ति उपेक्षा की दृष्टि से देखे जाने योग्य हैं ।

७६०—खड़े होओ, साहसी बनो, शक्तिमान होओ । सारा उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लो तुम्हें जो कुछ बल और सहायता चाहिये, सब तुम्हारे ही भीतर है ।

७६१—अपने उद्देश्य की पूर्ति में समर्थ हो, फिर चाहे समुद्र तल में ही क्यों न जाना पड़े—साक्षात् मृत्यु का ही सामना क्यों न करना पड़े ?

७६२—जो कुछ तुम्हें शरीर से, बुद्धि से या आत्मा से कमजोर बनाये, उसे विष की भाँति त्याग दो । वह कभी सत्य नहीं हो सकता । सत्य तो बल

प्रद है, पवित्रता स्वरूप है, ज्ञान स्वरूप है । सत्य तो वह है जो शक्ति दे ।

७६३—यदि सारी दुनियां भी सत्य के विरोध में खड़ी हो जाय तो भी अन्त में सत्य की ही विजय होगी ।

७६४—यदि हम कहें कि भगवान ही हम सबके पिता हैं और अपने दैनिक जीवन में प्रत्येक मनुष्य को अपना भाई न समझें तो फिर उसकी सार्थकता ही क्या ?

७६५—सुख अपने सिर पर दुःख का मुकुट पहने मनुष्य के सम्मुख आता है । जो उसको अपनायेगा उसे दुःख को भी अपनाना पड़ेगा ।

७६६—दूसरों के दोषों की चर्चा मत करो, चाहे दोष कितने ही बुरे क्यों न हों । किसी के दोषों की चर्चा करके तुम कभी उसका उपकार नहीं करते, बल्कि तुम उसे चोट ही पहुंचाते हो और साथ ही अपने को भी ।

किसों की सहायता की अपेक्षा न रखो । क्या भगवान सारी मानवी सहायता की अपेक्षा अनन्त गुने अधिक नहीं हैं ? भगवान में विश्वास रखो । सर्वदा उन्हीं का भरोसा रखो और बस तुम्हारे पैर सदा ठीक मार्ग में पड़ेंगे, फिर कोई भी चीज तुम्हारा सामना न कर सकेगी ।

७६७—सफलता के लिए तीन बातें अनिवार्य हैं—
पवित्रता, धैर्य और अध्यवसाय और सर्वोपरि चाहिये
प्रेम ।

७६८—यदि किसी व्यक्ति में सत्य, पवित्रता और
निःस्वार्थता—ये तीन बातें विद्यमान हैं तो इस ब्रह्माण्ड
में ऐसी कोई ताकत नहीं जो उसका बाल भी बांका
कर सके । इन तीनों से सज्जित रहने पर मनुष्य सारे
जगत का सामना कर सकता है ।

७६९—सत्य असत्य से अनन्त गुना प्रभावशाली
है और ऐसे ही भलाई भी बुराई से । यदि ये बातें
तुम में हों तो वे अपने प्रभाव से ही अपना रास्ता
बना लेंगी ।

७७०—ईश्वर में स्थिति हो, बस ठीक है, दूसरों
को ईश्वर में स्थित करो और सब ठीक हो जायगा ।
इस सत्य में विश्वास करो, तुम्हारी रक्षा होगी ।

७७१—जिस पदार्थ को यह देखता है सो पदार्थ
पूर्व कोऊ नहीं, चित्त के फूरणे से उदय होता है जब
चित्त फुरा कि या पदार्थ है तब आगे पदार्थ हुआ ।

७७२—पोल निकाल्यो जगत को सुषुप्ति अवस्था
मांहि ।

नाम रूप संसार की जहां गंध कछु नांहि ॥

जहाँ गंध कछु नांहि वर्णाश्रम भ्रम काटी !
 लेश कहूं ना रही किसी मत को मर घाटी ॥
 कह गिरधर कविराय आत्मा एक अडोला ।
 ता विन और प्रपंच सर्वको काढ़यो पोला ॥

७७३—“अपनी पगड़ी से अपना ही कफन-बना
 मैं आया हूं कूचे यार में ।

ताना लगा ले जिसका जी चाहे-मुझे
 ऐसे वैसों की परवाह भी नहीं ।”

७७४—किसी गुरु या उपदेशक की सहायता से हम क्या और कितना सीख सकते हैं । इस पर उन का विशेष ध्यान न था । यह विचार कभी उनके हृदय में उठा ही नहीं कि जीवात्मा और परमात्मा की आत्मीयता की सिद्धि के लिये कभी किसी दूसरे की मध्यस्थता की आवश्यकता हो सकती है, क्योंकि वे तो दो नहीं, सर्वथा एक है ।

७७५—समाधि या सुषुप्ति में सब एक है । जाग्रत में भिन्न शरीरों भिन्न मनों में एक ही अनेक होता है ।

७७६—जो व्यक्ति ऐसा अभ्यास बराबर करता रहेगा कि “मैं शरीर नहीं हूं” “मैं परिच्छिन्न मन, बुद्धि, अहंकार आदि नहीं हूं, किन्तु सम्पूर्ण शरीरों

का स्वामी हूँ और सब शरीरों में मैं ही फैला हुआ हूँ” तो उसका अनुभव इस बात के प्रमाण में स्वयं साक्षी देगा कि हाँ भीतर बाहर सब वस्तुओं में केवल एक ही चेतन आत्मदेव कर रहा है, और एक ही आत्मा (जो वास्तव में मैं है) सम्पूर्ण जगत में फैला हुआ है ।

७७७—आत्म विश्वास ही सफलता की कुंजी है ।

७७८—यदि इस नियम पर कि “जो सत्य है वह ब्रह्म है” इतनी उपेक्षा करो, जितना सांसारिक मनुष्यों की राजी नाराजी की करते हो, तो कोई विपत्ति आप के सिर पर नहीं आ सकती ।

७७९—यह शरीर फट जाय, यह सिर टूट जाय, हृदय विदीर्ण हो जाये, परन्तु मेरे अतिरिक्त अन्य कोई विचार हृदय में न उठे ।

७८०—जब कभी सांसारिक मित्रों, प्रियजनों तथा कुटुम्बियों पर विश्वास करके वह प्रेम जो ईश्वर के लिये होना चाहिये, आप उनसे करते हो, तो अवश्य धोखा खाओगे ।

७८१—जो कोई ईश्वर के अतिरिक्त और कहीं मन लगावेगा, धोखा खावेगा, दगा उठावेगा, छोड़ा (त्यागा) जावेगा ।

७८२—इस संसार पर विश्वास करना ही मौत है । तेरा असली आत्मा तो आनन्द स्वरूप है । जैसे सोया हुआ पुरुष स्वप्न में अपनी एकता नहीं जानता है, किन्तु अनेक रूप करके अपने को जानता है । उसी प्रकार वह आनन्द स्वरूप आत्मा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति रूप तीनों स्वप्नों को देखता हुआ अपनी एकता को अनुभव नहीं करता ।

७८३—जैसे कारण सामग्री से रहित एक स्वप्न पुरुष में अकस्मात् जगत प्रगट हो जाता है । उसी प्रकार आनन्द स्वरूप आत्मा के अकस्मात् स्थूल सूक्ष्म रूप प्रपञ्च प्रकट हो जाता है ।

७८४—जैसे स्वप्न में यह पुरुष बिना प्रयोजन के अपने को आप ही दुःख की प्राप्ति कराता है । वहां अपने सिवाय कोई दूसरा नहीं है । उसी प्रकार यह आनन्द-स्वरूप आत्मा भी जाग्रत में व्यर्थ ही अपने को दुःख की प्राप्ति कराता है ।

७८५—जैसे स्वप्न में यह पुरुष नाना पदार्थ को आप ही रचता है और आप ही उनको भोगता है ।

७८६—मन्द अधिकारी अपने हृदय में परमात्मा का ध्यान करें । जो उत्तम अधिकारी हो वह ब्रह्मवेत्ता गुरु के पास जाकर श्रद्धा सहित महावाक्य को सुने ।

पश्चात् मनन और निधिध्यासन द्वारा अपने आप प्रत्यग को जाने । जब अपने स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब शान्त आत्मा होता है, दूसरे प्रकार से नहीं होता जब तक महावाक्य का श्रवण नहीं प्राप्त हुआ तब तक मन्द अधिकारी है । उसको चाहिए कि वह हृदय कमल में अपने आपका ध्यान करे । इस ध्यान के प्रसाद से उसको आत्मज्ञानी गुरु मिल जायगा ।

७८७—मन बुद्धि अहंकार आदि छाया की नाई जड़ हैं, क्षण भंगुर हैं क्योंकि उत्पन्न होते हैं और लीन हो जाते हैं । जिस चैतन्य की छाया इनमें पड़ती है वही सबकी आत्मा है । मन बुद्धि अहंकारादि का अभाव तो हो जाता है पर इनके अनुभवी का नाश नहीं होता ।

७८८—जैसे यह पुरुष स्वप्न में आप ही सिंह बनता है और आप ही मनुष्य बनकर भय के मारे जाग उठता है, तब समझता है कि मेरे सिवाय तो वहां कुछ नहीं था । उसी प्रकार जीवनमुक्त बोधवान भी जानता है कि ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सब पदार्थ और व्यवहार मेरे संकल्प के आश्रय सिद्ध हैं । मुझ में सच्चिदानन्द आत्मा से इतर कुछ नहीं है ।

७८९—जैसे स्वप्न द्रष्टा पुरुष को स्वप्न के दुःख-

सुख जन्म मरण आदि स्पर्श नहीं करते क्योंकि सब कुछ वह स्वयं ही है। उसी प्रकार जीवन मुक्त ज्ञानवान को सुख-दुःख, जन्म-मरण, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि स्पर्श नहीं करते क्योंकि सब उसका अपना आप है।

७६०—मैं सत्, चैतन्य, अद्वितीय हूँ। मेरे से इतर कुछ नहीं है। फिर मैं क्यों भय करूँ ? इस विचार द्वारा वह निर्भय हुआ।

७६१—जैसे कोई पुरुष स्वप्न अवस्था से जाग्रत अवस्था को प्राप्त होकर स्वप्न जगत को मिथ्या जानता है और स्वयं को एक का एक ही देखता है।

७६२—वही भूमा नाम की आत्म ज्योति कुत्तों में पढ़कर भों-भों करती देखी जाती है, वही शूकरों में रहकर घुर-घुराती और गंधों में रहकर रेंकती है। परन्तु प्रायः मूर्ख लोग शरीरों पर ही दृष्टि रखते हैं, चैतन्य तत्त्व पर नहीं।

७६३—यह सब प्रपंच हमारी फुरना है, कल्पना मात्र है। फिर बताओ हम किसकी इच्छा करें। हम सर्व आत्मा हैं और सब कुछ हमको प्राप्त है। हमारे से भिन्न कोई भी पदार्थ नहीं है कि जिसकी हम पूजा करें।

७६४—पंच भूत, मन, बुद्धि तथा अहंकार नाम

की यह आठ प्रकृतियां ही उस चिन्मात्र भूमा आत्मा के अपरमार्थिक रूपान्तर है जब इन सबके साक्षी का ध्यान किया जाता है तभी निरुपाधिक सदा शिव आत्मदेव दृष्टिगोचर होने लग पड़ता है । जब इन आठों प्रकृतियों पर किसी साधक की दृष्टि पड़ी तभी उसको शीघ्र ही अपने भूमा सदा शिव का अखण्ड दर्शन हो जाता है । यहां तक की समाधि होने लग पड़ती है ? और धीरे-२ संसार के कार्यों से उपरामता होने लगती है ।

७६५—वेदान्त दर्शन तो कहता है कि आंखों से जो दिखता है, नाक से जो सूंघा जाता है, जीभसे जो चखा जाता है तथा त्वचा से स्पर्श किया जाता है, वह सभी मिथ्या है । इसका अर्थ यह है कि वह सब परिवर्तन शील है ।

७६६—मैं सम, शान्त और सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म ही हूँ, असत स्वरूप देह मैं नहीं हूँ । इसी को बुद्ध जन ज्ञान कहते हैं ।

७६७—मैं दुःख हीन, आभास हीन, विकल्प हीन और व्यापक हूँ । असत स्वरूप देह मैं नहीं हूँ—इसको बुद्धजन ज्ञान कहते हैं ।

७६८—मैं निर्गुण, निष्क्रिय, नित्य, नित्यमुक्त और

अच्युत हूं । असत् स्वरूप देह में नहीं हूं—इसी को बुद्धजन ज्ञान कहते हैं ।

७६६—मैं निर्मल, निश्चल, अनन्त, शुद्ध और अजर अमर हूं । असत् स्वरूप देह मैं नहीं हूं । इसी को बुद्ध जन ज्ञान कहते हैं ।

८००—मैं निर्विकार, निराकार, निर्मल और अविनाशो हूं । असत् स्वरूप देह मैं नहीं हूं । इसी को बुद्ध जन ज्ञान कहते हैं ।

८०१—मैं एक से अनेक हूँ और अनेक से एक भी मैं ही हूँ । वास्तव में मैं शुद्ध हूँ, अभय, अक्रिय, अविनाशी हूँ ।

८०२—जब मनुष्य भूत भविष्य की चिन्ता का त्याग कर देता है, जब वह देह को सीमा बद्ध और इसलिए उत्पत्ति विनाश शील जानकर देहाभिमान का त्याग कर देता है, उसी समय एक उच्चतर अवस्था में पहुँच जाता है ।

८०३—यों प्रत्येक भूत और प्रत्येक भौतिक पदार्थ को असत्ता पर जब बार-बार विचार चलेगा तब अद्वैत के सत्य होने की बात दृढ़तर होती जायेगी ।

८०४—पाँचों भूत या पाँचों भूतों से बना हुआ कोई भी पदार्थ जब दीखे तभी उसके सत्य तत्त्व पर

दृष्टि पड़ने लगे और उसमें ही जमने भी लगे तो यही 'द्वैतावज्ञा' कहाती है, यह अद्वैत बुद्धि कही जाती है और उसे ही 'ब्राह्मी स्थिति' भी कह देते हैं ।

८०५—सर्व आनन्द ही है पर भ्रान्ति करके दुःख भासता है ।

८०६—मुझे न कोई भय है और न मृत्यु है, न मुझे भूख है, न प्यास है, प्रकृति की कोई भी व्यथा मुझे नष्ट नहीं कर सकती । मैं वही हूं, मैं वही हूं ।

८०७—एक ही स्वयं प्रकाश ब्रह्म द्रष्टा और दृश्य दोनों रूपों में खेल रहा है । यानि द्रष्टा देखने वाला भी आप है और दृश्य यानि दिखाई देने वाला भी आप है । पर देखने वाला एक रस है ।

८०८—एक शिलाखण्ड लुढ़कता आरहा था । इससे पूर्व कि वह बुद्ध पर गिरे शिलाखण्ड एक दूसरी चट्टान से टकराया । भयंकर गर्जन के साथ उसके दो टुकड़े हो गये । दोनों टुकड़े लक्ष्य से भाग गये । दोनों टुकड़े ध्यानस्थ बुद्ध के दोनों ओर अधिक-२ दूरी पर गिरे । बुद्ध बच गये । एक कंकड़ी उनक पांव में लगी । क्षत हुआ, हलका सा रुधिर बहा । वह कुशलता पूर्वक अपने स्थान से उठ खड़े हुए । भिक्षुओं ! सम्यक समाधि का यह ज्वलन्त प्रमाण है । मेरे पांव में जो क्षति हुई

है वह केवल ध्यान की पूर्णता में कुछ अभाव का फल है ।

८०६—न दुश्मन है कोई अपना,

न सज्जन ही हमारे हैं ।

हमारे ख्याल फिरने से बने,

ये कुल पसारे हैं ।

८१०—आत्म प्रकाश सूर्य की सुनहली किरणों,
चन्द्रमा की नीली चांदनी तथा रात्रि की काली कालिमा
को प्रकाश करने हारा अखण्ड चेतन स्वरूप है ।

८११—जैसे प्रकृति के हरएक पदार्थ को देखने अर्थ
प्रकाश का होना आवश्यक है, वैसे ही मन, बुद्धि
इन्द्रिय आदि को अपना कार्य करते समय आत्म प्रकाश
की आवश्यकता है । क्योंकि बाहर के जड़ प्रकाश मन
बुद्धि प्राणादिकों को चेतन करने में समर्थ नहीं हैं ।

८१२—ब्रह्मत्व की अपेक्षा बाहरी व्यापार में आप
अधिक विश्वास रखते हैं । आप दुनियाँ को परमेश्वर
से अधिक सत्य बना देते हैं ।

८१३—इन्द्रिय ज्ञान भ्रान्ति मात्र है सब नाम मात्र
तथ्य जिनको आप तथ्य मानते रहे हैं, माया मात्र व
भ्रम मात्र है । इन्द्रियों के इन्द्रजाल ने आपके लिये
इनको बना रखा है । इन्द्रियों के चक्र में न आओ ।

८१४—यदि तुम सत्य के मार्ग से नहीं हटते तो

प्रवाह तुम्हारे साथ है, समय तुम्हारी ओर है, क्षेत्र तुम्हारे हाथ है । लोगों को पिछली महिमा पर उछलने दो, अगली महिमा सबकी सब तुम्हारी है ।

८१५-जब तुम दिव्य प्रेम के साथ चंडाल में, चोर में, पापी में, अभ्यागत में और सबमें उस प्रभु के दर्शन करोगे तब तुम भगवान् कृष्ण के प्रेम पात्र बन जाओगे ।

८१६-व्यक्ति, रूप, मान, पद, धन, विद्या और आकार का सत्कार करना मूर्ति पूजन है ।

८१७-हमारा यदि परमेश्वर पर पूर्ण विश्वास है तो हम किसी से नहीं डरेंगे । राजा-महाराजाओं से नहीं, वाइसराय से नहीं, खुफिया पुलिस से नहीं, और स्वयं बादशाह से नहीं ।

८१८-आचार्य, गौड़पाद ने स्पष्ट कह दिया है चाहे आप आपस में लड़ते रहें, लेकिन आप हमसे नहीं लड़ सकते । आप हमारे पेट में हैं ।

८१९-यह दृश्य पदार्थ सर्वथा मिथ्या ही है । इसका किसी काल में अस्तित्व नहीं है ।

८२०-मनुष्य सारे प्राणियों से श्रेष्ठ है, सारे देवताओं से श्रेष्ठ है, उससे श्रेष्ठ और कोई नहीं है । देवताओं को भी फिर से धरती पर आना पड़ेगा और

मनुष्य शरीर धारण कर मुक्ति प्राप्त करनी होगी ।

८२१—निश्चिन्ता के दो सूत्र—जो जरूरी है उसे पूरा कर डालें । जो गैर जरूरी है उसे भुला डाले ।

८२२—निश्चिन्ता ही तो स्वास्थ्य सुधार की सबसे बड़ी दवा है ।

८२३—संसार की समस्त नर नारी ही हमारी प्रे ही सन्तान है ।
अपनं ।

८२४—साधो सहज समाधि भली ।

गुरु प्रताप जा दिन ते उपजी,

दिन दिन अधिक चली ॥

जहँ जहँ डीलो सोई परिकरमा,

जो कुछ करे सो सेवा ।

जब सोवो तब करौ दण्डवतू,

पूजा और न देवा ॥

कहौ सो नाम, सुनौ सो सुमिरन,

खावौ-पियौ सो पूजा ।

गिरह उजाड़ एक सम लेखी,

भाव न राखौ दूजा ॥

आँख न मूदौ, कान न रुधौ,

काया कष्ट न धार

(१६३)

खुले नैन पहिचानौ हंसि हंसि,
सुन्दर रूप निहारी ॥
सबद निरन्तर से मन लगा,
मलिन वासना त्यागो ।
उठत बैठत कबहूँ न छुटै,
ऐसी तारी लागी ॥
कहे “कबीर” यह उन्मुनि रहनी,
सो प्रकट करि गाई ।
दुःख-सुख से कोई परे परमपद,
ते ही पद रहा समाई ॥

८२५—चाहे संसार भर के सारे बड़े-२ उपदेशक आ जायँ, ईसा अथवा स्वयं ईश्वर आकर उपदेश करें, परन्तु जब तक स्वयं अपने को उपदेश देने के लिये तत्पर नहीं होंगे तब तक दूसरों के उपदेशों से रंचमात्र लाभ न होगा । सच्चे महात्माओं के निकट क्रोध मूर्ति मनुष्य भी पानी पानी हो जाते हैं, जंगल के भेड़िये, सिंह आदि उन्हें देख प्रेम विह्वल हो जाते हैं । सांप, बिच्छू आदि अपने दुष्ट स्वभाव को भूल जाते हैं ।

८२६—सफलता ईश्वर में तन्मय और तल्लीन होने से मिलती है । सदा ऐसा ही हुआ करता है ।

८२७—जो मुक्त है, सारी प्रकृति उसकी वन्दना

करती है, सारा विश्व उसके सामने सिर झुकाता है मैं मुक्त हूं, आप मुक्त हैं । चाहे आज यह माना जाय या नहीं, पर वह एक निष्ठुर सत्य है, देर या सवेर इसे सब लोगों को अनुभव करना पड़ेगा ।

८२८—ऐ मनुष्य ! तू ही अपनी चितवन से सारी वस्तुओं को चित्ताकर्षक बना देता है । (उन प्रेम भरी) आंखों से जब तुम उनकी ओर देखते हो तुम्हीं स्वयं अपनी चमक उन पर डाल देते हो और फिर तुम्हीं उनके प्रेम में फंस जाते हो ।

८२९—मैंने विचित्र और पेचीदे मार्गों से उन तत्वों की खोज की, जो मुझे ईश्वर तक पहुंचा सकें, किन्तु प्रत्येक नई सड़क से जिस पर कि चला तत्व को दूर ही पाया । फिर मैंने बुद्धिमत्ता और विद्या की खोज की, परन्तु जितनी ही अधिक खोज की, उतने ही मुझसे दूर भागे और गुरुओं, किताबों, और विद्यालयों ने मेरे विचारों को उल्टा गड़बड़ कर दिया । मैं (थककर) बैठ गया, इस तरह से जब निस्तब्धता की दशा विद्यमान थी और संयोगतः अपने भीतर ध्यान किया तो इस अन्तर्दृष्टि से मुझे सब कुछ मिल गया, जिसकी मैं खोज में था और मेरी आत्मा ने सबको व्याप्त कर लिया ।

८३०—यदि तू ईश्वर और तुच्छ संसार दोनों को एक साथ चाहता है तो यह तेरी भ्रान्ति और पागलपन है ।

८३१—करें हम किसकी पूजा,
और लगायें किसके चंदन हम ।
सनम हम, दैर हम, बुतखाना
हम, बुत हम, विरहमन हम ॥

८३२—मैं वही हूँ मैं वही हूँ मैं वही हूँ । जिस जगह तेरी आंख पड़े उसको तू मेरे अतिरिक्त मत जान ।

८३३—जैसे स्वप्न में कर्त्ता, क्रिया और कर्म अपने में प्रतीत होते हैं और है नहीं, तैसे जाग्रत की त्रिपुटी भी है ।

८३४—वेदान्त का यह अनुशासन है कि 'नीच' शत्रु, पाषाण हृदय, पिशाच कोई है नहीं । मेरा पवित्र स्वरूप ही समस्त रूपों में प्रति समय शोभायमान है । अपने आपका कोई अनिष्ट नहीं करता । अतः मेरा अनिष्ट करने वाला कौन है ? अन्य तो कभी विचार गर्भ में भी उपस्थित नहीं हुआ । द्वैत दृष्टि का पाप तोड़ो ।

८३५—जैसे साधारण मनुष्य को पत्थर, गाय, भैंस दृष्टिगोचर होती है, उसी जोर से आनन्दधन

अद्वैत स्वरूप का सबमें अनुभव करना अमर होना है ।

८३६—विचित्र दर्शन है कि दर्शन करने वाला दो नहीं रहते । अपने आप तमाशा और अपने आप तमाशा देखने वाला । आश्चर्य है हर (परमेश्वर) का दर्शन यही है कि हर (पशु, पक्षी, मनुष्य सारा संसार) में ही हूँ ।

८३७—जब ईश्वर दृष्टि से देखा जाता है, तो सारा संसार सौन्दर्य का प्रवाह, हर्ष का प्रादुर्भाव और आनन्द का स्रोत बन जाता है ।

८३८—यदि कोई मनुष्य अपने अन्तःकरण में किसी को सत्य या विश्वासपात्र मानेगा तो अवश्य ही वह उस पदार्थ से अलग हो जायगा । अथवा धोखा खायेगा ।

८३९—तुम अपने आपको ईश्वर, ईसा, मुहम्मद, बुद्ध, कृष्ण अथवा ससार के अन्य किसी महात्मा के अधीन क्यों समझते हो ? तुम सबके सब स्वाधीन हो ।

८४०—परमात्मा का दर्शन केवल शास्त्र और गुरु से नहीं होता किन्तु सतोगुण में स्थित रहने वाली अपनी बुद्धि के द्वारा आत्मा का मनन करने से ही आत्मा का दर्शन होता है ।

८४१—इस शरीर को काष्ठ और लोहे के समान

(जड़) जानना बस केवल इतने ही ज्ञान मात्र से सबके स्वामी ब्रह्मरूप का बोध हो जाता है ।

८४२—जिस चित्त में मुक्ति की देने वाली यह वासना है कि दृश्यमान यह ब्रह्म ही ब्रह्म है (वह साक्षात् मोक्ष स्वरूप है) अतएव अज्ञान रूप भेद बुद्धि द्वैत भाव को सर्वथा त्याग देना चाहिये ।

८४३—मैं भी नहीं हूँ तथा मुझ से भिन्न और कुछ भी नहीं है । साक्षात् आनन्द से परिपूर्ण केवल निरन्तर और सर्वत्र एक ब्रह्म ही है, उद्वेग को त्याग कर ब्रह्म ही की उपासना करनी चाहिये ।

८४४—संसार में चर और अचर जो कुछ भी दिखता है यह सब मन ही का दृश्य है (वास्तव में कुछ नहीं) और मन का लय हो जाने पर फिर द्वैत भाव नहीं रहता ।

८४५—वेदान्त कहता है कि इस व्यक्ति या उस व्यक्ति की भावनाओं की अपेक्षा सत्य को अधिक महत्व दो, क्योंकि यदि आप सत्य का सत्कार करेंगे तो आप यथार्थ में मित्र को महत्व देंगे ।

८४६—जिस समय आप यह जान लेंगे कि दूसरों का हित करना अपना ही हित करना है और किसी की हानि करना अपनी ही हानि करना है, उस समय

आप धर्म के स्वरूप का साक्षात्कार कर सकेंगे ।

८४७—तुम आत्म प्रतिष्ठा, दलबंदी और ईर्ष्या को सदा के लिये छोड़ दो । तुम्हें पृथ्वी माता की तरह सहनशील होना चाहिये । यदि तुम ये गुण प्राप्त कर सको तो संसार तुम्हारे पैरों पर लोटेगा ।

८४८—जो दूसरों का सहारा ढूँढता है, वह सत्य स्वरूप भगवान की सेवा नहीं कर सकता ।

८४९—जो कि दुःख सुख में समान रहता है । तथा सम्पूर्ण अवस्थाओं में अपने अनुकूल ही बना रहता है जो हृदय का एक मात्र विश्राम-स्थान है, वृद्धावस्था जिसके रस को नष्ट नहीं कर सकती, जो समय के बदलने से स्वयं नहीं बदलता और जिसकी स्थिति स्नेह सार ही रहती है, सत्यपुरुष के इस प्रकार के सुन्दर प्रेम के पात्र कोई बड़ भागी पुरुष ही होते हैं ।

८५०—नाम जप में देश, काल, पात्र, जाति, वर्ण, समय, असमय, शुचि, अशुचि इन सभी बातों का विचार नहीं होता ।

८५१—शोक और मोह का कारण है—प्राणियों में विभिन्न भावों का अध्यारोप । जब मनुष्य एक को तो अपना सुख देने वाला प्यारा, सुहृद् समझता है । और दूसरे को दुःख देने वाला शत्रु समझकर उससे

द्वेष करने लगता है तब उसके हृदय में शोक और मोह का उदय होना अवश्यम्भावी है । जिस समय सभी प्राणियों में वह उसी अखण्ड सत्ता का अनुभव करने लगेगा, जब प्राणीमात्र को प्रभु का पुत्र समझकर सबको महान् भाव से प्यार करेगा तब उस साधक के हृदय में मोह और शोक का नाम भी न रहेगा । वह सदा प्रसन्न होकर भगवन्नामों का स्मरण-चिन्तन करता रहेगा । उसके लिये न तो संसार में कोई शत्रु होगा न मित्र, वह सभी को अपने प्रियतम को प्यारी सन्तान समझ कर भाई के नाते से जीवमात्र की बंदना करेगा और उसे भी कोई क्लेश न पहुँचा सकेगा । उसके सामने विषधर सर्प भी अपना स्वभाव छोड़ देगा । भगवन्नाम का महात्म्य ही ऐसा है ।

८५२—जिसे अपने प्राणों की परवाह नहीं, जो मृत्यु का नाम सुन कर तनिक भी विचलित न होकर उसका सर्वदा स्वागत करने के लिये प्रस्तुत रहता है । उसके लिये संसार में कोई काम दुरूह नहीं । उसे इन बाह्य शस्त्रों की उतनी अधिक अपेक्षा नहीं, उसका तो साहस ही शस्त्र है । वह निर्भीक होकर अपने साहस रूपी शस्त्र के सहारे अन्याय के पक्ष लेने वाले का पराभव कर सकता है । फिर भी वह अपने विरोधी

के प्रति किसी प्रकार के बुरे विचार नहीं रखता ।

८५३—जब सभी अपने प्रभु का ही स्वरूप है तो भय किसका ? भय दूसरे से होता है अपने आप से किसी को भय नहीं । द्वेष गैर से किया जाता है, जब सभी श्याम सुन्दर के ही रूप हैं, तब द्वेष किससे करें और क्यों करें ?

८५४—बकवादी लोग जैसा चाहे वैसा बकवाद किया करें, हम उस पर ध्यान नहीं देंगे । हम तो बस हरि नाम रस की मदिरा के नशे में मस्त हो भूमि पर नाचेंगे लोटेंगे और लोटते-लोटते बेसुध हो जायेंगे ।

८५५—आनन्द और उल्लास को विध्वंस करने वाली राक्षसी चिन्ता ही है ।

८५६—निर्बल पुरुषों का बल क्षमा ही है और वही क्षमा बलवानों का परम भूषण है । क्षमा के द्वारा संसार वश में किया जा सकता है । संसार में ऐसा कौन सा काम है जो क्षमा के द्वारा सिद्ध न हो सकता हो ? जिसके हाथ में क्षमा रूपी शस्त्र है उसका दुर्जन क्या बिगाड़ सकते हैं ?

८५७—यदि किसी के हृदय में ठीक-ठीक अनुराग पैदा हो और साधक ध्यान भजन की आवश्यकता

समझने लगे, तो निश्चय ही भगवान साधक को सद्गुरु से मिला देते हैं । साधक को सद्गुरु के लिये चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं

८५८—लज्जा, भय और घृणा इन तीन के रहते हुये ईश्वर लाभ नहीं होता ।

८५९—ईश्वर दर्शन के लिये व्याकुलता अधिक नहीं तीन ही दिन नहीं केवल २४ घंटे मन में टिकाओ कि उसका दर्शन होना ही चाहिये । अत्यन्त व्याकुल होकर ईश्वर को पुकार करो, तब देखो भला ईश्वर कैसे दर्शन नहीं देता ?

८६०—लज्जा, घृणा, भय, कुल, शील, जाति, मान, अभिमान इन अष्ट पाशों से मनुष्य जन्म से ही बंधा रहता है । इसलिए इन अष्ट पाशों को मन और शरीर दोनों से त्याग देना चाहिये ।

८६१—त्याग और संयम के पूर्ण अभ्यास द्वारा मन और इन्द्रियों को वश कर लेने पर जब साधक का अन्तःकरण शुद्ध और पवित्र हो जाता है तब उसका मन ही गुरु बन जाता है । फिर उसके शुद्ध मन से उत्पन्न हुई भाव तरंगें उसे कभी भी मार्ग भूलने नहीं देती और उसे शीघ्र ही उसके ध्येय के ओर ले जाती है ।

८६२—यह जगत केवल हमारी आन्तरिक कल्पना

को बाह्य प्रकाश मात्र है । हमारे भीतर अनेकता है, इसलिये बाहर भी अनेकता ही दिखाई देती है ।

८६३—कामिनी कांचन की आसक्ति यदि पूर्ण रूप से नष्ट हो तो देह अलग है और आत्मा अलग है ऐसा स्पष्ट रूप से दिखने लगता है ।

८६४—सभी स्थानों में परमेश्वर व्याप्त है और जो कुछ होता है सो सब परमेश्वर की इच्छा से ही होता है । इस प्रकार की दृढ़ धारणा जहाँ हो गई है वहाँ क्रोध कौन करे और किस पर करे ? कैसा भी विकट प्रसंग क्यों न हो, मन की समता कैसे विचलित हो सकती है ?

८६५—जो सन्मार्ग से किसी भी विघ्न आने पर नहीं रुकता वह अवश्य सफलता पाता है ।

८६६—बहता है पानी भर-भर,
चलती है हवा सर-सर,
उड़ते हैं पक्षी फर-फर,
लड़ती हैं फौजें मर-मर,
फिरते हैं योगी दर-दर,
होती है पूजा हर-हर,
किसमें ?

मुझमें । मुझमें । मुझमें ॥

८६७—वेदान्त कहता है कि यह संसार एक खेल है और आप उसमें खिलाड़ी की तरह हैं। जो भी कार्य इस जीवन क्षेत्र में आपके सामने आये, उसे अपना पार्ट समझकर पूरा करो, परन्तु अपने वास्तविक स्वरूप को कभी न भूलो। जैसे नाट्यशाला में पार्ट करने वाला व्यक्ति अपनी असलियत को किसी भी राग-द्वेष के अधीन नहीं होता।

८६८—प्रातःकाल को उठते ही “मैं यह शरीर नहीं हूँ” और सब प्राणीमात्र मेरा ही आत्मा है। ऐसा समझकर बर्ताव करना। नित्य प्रति ऐसा अभ्यास करने से यह सिद्धान्त हृदय में स्थिर होगा।

८६९—सच्चा प्रेमी आगे पीछे का चिन्तन नहीं करता, न किसी आशंका से भयातुर होता है और न वर्तमान परिस्थिति में प्रीति मात्र के बिना कहीं चैन ही लेता है।

८७०—जैसे बालक प्रतिबिम्ब के आश्रय दर्पण को या जलाशय की ओर ध्यान नहीं देता किन्तु उनमें पड़े प्रतिबिम्ब को ही देखता है या जैसे कि पामर लोग इस सकल स्थूल प्रपंच के आश्रय आकाश को कभी ध्यान में भी नहीं लाते, केवल इस स्थूल प्रपंच पर ही ध्यान रखते हैं वैसे ही नाम रूप के भक्त

स्थूल दृष्टि के लोग अपने दुर्भाग्य के कारण सकल जगत के आधार सच्चिदानन्द जैसी पवित्र वस्तु का कभी ध्यान भी नहीं कर पाते ।

८७१-जो परम प्रभु से प्रेम करता है, उसके आगे सुन्दर पदार्थ, यश, मान, धन, ऐश्वर्य, शक्ति सिद्धि, स्वर्ग सुख आते ही हैं । उसके इनके प्रलोभन से विचलित न होने पर विघ्न, अपयश, निर्धनता, अपमान, शक्ति हीनता तथा रोग और विपत्ति आदि प्रतिकूलताओं का आक्रमण होता है यही प्रीति की परीक्षा है ।

८७२-सृष्टि में जो कुछ पदार्थ है सो सब हमारे भीतर से आये हैं ।

८७३-यदि दुःख विपत्ति आये तो समझो ईश्वर तुम्हारे साथ खेल कर रहे हैं । और यही समझकर दुःख में भी परम सुखी रहो ।

८७४-मैं स्वयं प्रयत्न से साधन भजन करके ईश्वर को अवश्य प्राप्त करूंगा ऐसा दृढ़ संकल्प करके निष्ठा के साथ ३-४ वर्ष तक रोज कम से कम प्रातःकाल और सायंकाल प्रत्येक बार दो घंटा आसन पर बैठकर जप ध्यान करते जाओ ।

८७५-कठिनाइयों से जितना डरोगे उतना ही वे

ज्यादा भय दिखाती हैं और जोर पकड़ती हैं ।

८७६—उच्च कोटि का साधक भगवान को छोड़कर वह किसी से भी या किसी को भी प्रत्याशा नहीं रखता । उसे चाहे परमेश्वर का जितना दुःख, कष्ट, देखने को मिले, संसार में चाहे जितने दुःख, कष्ट, अभाव, दारिद्र्य, विपत्ति, कठिनाई उसे प्राप्त हों वह किसी से भी विचलित नहीं होता ।

८७७—जगत और जीवन खेलमात्र है, ऐसी दृढ़ धारणा होने से खेल खत्म हो जाता है ।

८७८—वीर भक्त कहता है कि मैं भगवान का दास होकर किससे डरूँ, मेरे लिये असम्भव ही क्या है । हम तारों को चूर-चूर कर डालेंगे, त्रिभुवन को बल पूर्वक उखाड़ डालेंगे । क्या तुम हम जानते नहीं हम श्री भगवान के जौ दास हैं । जिस जगत का शासक भगवान है उसमें मैं किससे डर सकता हूँ ।

८७९—देश, काल आपके ही भीतर है, आप देश काल के अन्तर्गत नहीं हैं ।

८८०—जगत में जो थोड़ी बहुत खराबी है उसे अच्छा ही कहना चाहिये । क्योंकि साम्यवाद आने पर यह जगत ही नष्ट हो जायगा । साम्य और विनाश दोनों एक ही हैं ।

८८१-शुभ-अशुभ सभी मेरे दास हैं मैं उनका दास कदापि नहीं हूँ । जगत मेरे लिये है मैं जगत के लिये कदापि नहीं हूँ ।

८८२-जगत के सुख दुःख के ऊपर शान्त भाव से दृष्टिपात करो । अच्छा बुरा दोनों को एक दृष्टि से देखो । दोनों ही भगवान के खेल हैं । इसलिये अच्छा, बुरा, सुख-दुःख सभी में आनन्द का अनुभव करो ।

८८३-जब कोई भी विषय तुम्हें विचलित नहीं कर सकेगा तभी समझो कि तुमने मुक्ति या स्वाधीनता प्राप्त कर ली ।

८८४-पहले अपने को जीत लो फिर सम्पूर्ण जगत तुम्हारे पैरों के नीचे आ जायगा ।

८८५-लोग जब तुम्हारी बुराई करते हैं तो तुम उन्हें आशीर्वाद दो । ऐसे स्थान पर जाओ जहां लोग तुम से घृणा करें ।

८८६-शास्त्र तो सब हमारे ही भीतर हैं । धैर्य-हीन व्यक्ति कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता ।

८८७-हमारे भीतर जो नहीं है बाहर में भी हम उसे नहीं देख सकते ।

८८८-ब्रह्मदृष्टि को छोड़कर अन्य किसी भाव

से किसी वस्तु को मत देखो । यदि ऐसा करोगे तो अन्याय और बुरा ही देखने में आवेगा ।

८८९—जब तक तुम्हारे ऊपर कोई भी तुमसे भिन्न यहां तक कि ईश्वर भी यदि रहेंगे तब तक अभय अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती । हमें वही ईश्वर या ब्रह्म हो जाना होगा ।

८९०—जिस किसी वस्तु में तुम शक्ति का विकास देखते हो वह शक्ति तुम्हारी दो हुई है ।

८९१—‘खराब’ शब्द वाच्य कुछ है यह स्वीकार मत करो जो नहीं हैं उसको सृष्टि अपनी ओर मत करो ।

८९२—सर्वदा कहो ‘मैं प्रभु हूँ’ मैं सभी का प्रभु हूँ । हमी से अपनी शृंखला गढ़ी है और हमी इसे तोड़ सकते हैं ।

८९३—भेद वस्तुओं के स्वरूप में नहीं रहता वह तो हमारे मस्तिष्क में रहता है बाहर में तो एक अखंड वस्तु ही है, भेद केवल भीतर में ही है । हमारे मन में भेद रहता है अतएव बहुत्व का ज्ञान मन की सृष्टि ही है ।

८९४—तुम तो मुक्त हो, मुक्त हो, पहले से ही मुक्त हो, सर्वदा कहो—मैं सदा आनन्द स्वरूप हूँ,

मैं मुक्त स्वभाव हूं, मैं अनन्त स्वरूप हूं, मेरी आत्मा का आदि अन्त नहीं है। सभी मेरे आत्म स्वरूप हैं।

८६५—देह और मन कार्य करते हैं। मैं कुछ नहीं करता सर्वदा अपने को इस प्रकार समझाते रहो और इस बात को प्रत्यक्ष करने की चेष्टा करो, जिससे तुम्हें ऐसा ज्ञान न हो जाय कि तुम कुछ कर रहे हो।

८६६—लोग तुम्हारे प्रति चाहे जैसा व्यवहार करें किन्तु तुम्हारा किसी के भी प्रति प्रेम घटना न चाहिये।

८६७—जब हम में दोष नहीं है तो हम दूसरे का दोष देखेंगे कैसे ? यदि हम स्वयं पवित्र हैं तो हमें बाहर में अपवित्रता नहीं दिखाई देगी। बाहर में अपवित्रता हो सकती है किन्तु हमारे लिये उसका अस्तित्व नहीं होगा।

८६८—किसी व्यक्ति से विशेष भाव से प्रेम करना बंधन है, सभी से समान रूप से प्रेम करो। तब तुम्हारी सभी वासनायें विलीन हो जायेगी।

८६९—जब हम कुछ भी बुराई नहीं देख पायेगे, तब हमारे लिये जगत प्रपंच भी नहीं होगा।

यह जगत प्रपंच वही शुद्ध-बुद्ध स्वरूप ब्रह्म मात्र है। ब्रह्म छोड़ कर और कुछ भी नहीं है। यह मत कहो कि योग के द्वारा विशुद्धि प्राप्त होगी।

तुम स्वयं शुद्ध स्वभाव हो । तुम्हें कोई भी शिक्षा नहीं दे सकता ।

६००—“ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय ये त्रिविध बंधन जब दूर हो जाते हैं तभी आत्म-स्वरूप का प्रकाश होता है ।” जब बंधन और मुक्ति रूप भ्रम दृष्ट जाता है तभी आत्मस्वरूप का प्रकाश होता है ।

६०१—मन सयम करो तो क्या और न करो तो भी क्या ? तुम्हारा धन रहे तो क्या न रहे तो भी क्या ? तुम तो नित्य शुद्ध आत्मा हो । किसी प्रकार का बंधन तुम्हारे पास नहीं आ सकता । तुम अपरिणामी निर्मल आकाश रूप हो ।

६०२—धर्माधर्म, पाप-पुण्य दोनों ही दग्ध कर डालो । मुक्ति तो वच्चों की कहानी मात्र है ।

६०३—न कोई कभी बंध हुआ है न कोई कभी मुक्त । मेरे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं । मैं अनन्त स्वरूप और नित्य मुक्त स्वभाव हूँ, कौन मेरे स्वभाव को बदल सकता है ? गुरु भी कौन है ? शिष्य भी कौन है ?

६०४—तर्क-युक्ति, ज्ञान विचार को गड्ढे में फेंक दो । बंध स्वभाव मनुष्य ही दूसरों को बंध देखता है, भ्रान्त व्यक्ति ही दूसरों को भ्रान्त देखता है, अशुद्ध

स्वभाव व्यक्ति ही दूसरों को अशुद्ध देखता है ।

६०५—तुम सोचते हो कि मैं बंध हूँ मुक्त होऊंगा यह तुम्हारा रोग है । तुम अपरिणामी हो । बातें करना छोड़ दो, चुप होकर बैठे रहो—सभी वस्तुएं तुम्हारे सामने से उड़ जाय वे सब स्वप्न मात्र है । पार्थक्य या भेद नामक कोई वस्तु नहीं है, वह सब कुसंस्कार मात्र है अतएव मौनभाव का अवलम्बन करो और अपना स्वरूप पहचानो ।

६०६—तुम आनन्द घन स्वरूप हो । किसी आदर्श का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं तुम्हें छोड़कर और दूसरा है ही क्या ? किसी से भय मत करना । तुम सार स्वरूप हो । शान्ति में रहो—अपने को चंचल मत करो । तुम कभी बंध नहीं हुए हो । पुण्य-पाप तुम्हें स्पर्श नहीं करता । इन सभी भ्रमों को दूर कर दो और शान्ति में रहो ।

६०७—किस की उपासना करोगे ? उपासना भी कौन करेगा ? सभी तो आत्मा हैं । कोई बात कहना या किसी तरह की चिन्ता करना कुसंस्कार है । बारम्बार बोलो मैं आत्मा हूँ, मैं आत्मा हूँ । शेष सब उड़ जाने दो ।

६०८—सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने पर तुम देख

पाओगे कि किसी भी वस्तु में न किसी प्रकार की गति है न किसी प्रकार का परिणाम । हम लोगों की यह धारणा ही माया है 'किसी प्रकार की गति या परिणाम है ।'

६०६-जब तुम इस जगत प्रपंच को नहीं देख पाओगे या नहीं जान सकोगे, तभी तुम्हें आत्मोपलब्धि होगी ।

६१०-तुम्हारे भीतर जो सब दोष राशि है उसे दूर कर डाली-ऐसा करने पर तुम बाहर के दोषों को फिर नहीं देख पाओगे ।

६११-तुम्हें जिस किसी वस्तु का अभाव बोध होता है उसकी सृष्टि तुम्हीं करते हो-वासना मुक्त हो जाओ ।

६१२-भूत या भविष्य में न कोई तुम्हारी अपेक्षा श्रेष्ठ ईश्वर था ना है न होगा तुम्हीं वह अनन्त समुद्र हो । ईसा, बुद्ध प्रभृति तुम्हारी तरंगें मात्र हैं ।

६१३-हमारे भीतर जो ज्ञान ज्योति वर्तमान है, शास्त्र उसकी ओर केवल संकेत करते हैं । और उसकी अभिव्यक्ति करने का उपाय बतला देते हैं । किन्तु जब हम स्वयं उस ज्ञान का लाभ करते हैं तभी हम शास्त्र को ठीक ठीक समझ पाते हैं । जब तुम्हारे भीतर उस

अन्तर्ज्योति का प्रकाश है तो फिर शास्त्र का क्या प्रयोजन ? तुम केवल अन्तर को ओर दृष्टिपात करो । सम्पूर्ण शास्त्र में जो है, तुम्हारे अपने भीतर में वही है, वरन उसकी अपेक्षा हजार गुना अधिक है ।

६१४—तुम अपने ऊपर अविश्वास कभी मत करो, तुम इस जगत में सब कुछ कर सकते हो, कभी भी अपने को दुर्बल मत समझो । सभी शक्तियां तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं ।

६१५—कोई गुरु या कोई शास्त्र हमें उसको प्राप्ति में सहायता मात्र दे सकते हैं, इसके अतिरिक्त वे और कुछ भी नहीं कर सकते, और तो क्या इनकी सहायता के बिना भी हम अपने भीतर में ही सभी सत्त्वों का लाभ कर सकते हैं तथापि शास्त्र और आचार्य गणों के प्रति कृतज्ञ रहो ।

६१६—तुम उसे बुद्ध, ईसा, कृष्ण, जिहोवा, अल्ला अथवा अग्नि चाहे किसी नाम से पुकार सकते हो, किन्तु वास्तव में वह तुम्हारा ही आत्मा है ।

६१७—जगत में जितने बाइबिल, ईसा या बुद्ध हुए हैं, सभी तुम्हारी ज्योति से ज्योतिष्मान है । इस ज्योति को छोड़ देने पर वे सब तुम्हारे लिये और अधिक जीवित नहीं रह सकेंगे, मर जायेंगे ।

६१८—मृतक शरीर के साथ चाहे जैसा व्यवहार क्यों न करो, उसमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । हमें अपने शरीर को इसी प्रकार मृतवत् करके रखना होगा ।

६१९—जब तुम केवल ब्रह्म को ही देखोगे तब फिर किसका उपकार कर सकोगे ? भगवान का तो उपकार कर नहीं सकते ? उसी समय सभी संशय नष्ट हो जाते हैं, सर्वत्र समत्व भाव आ जाता है । तब यदि किसी का कल्याण करते हो तो स्वयं अपना ही करते हो ।

६२०—राजा के समान बनी, समझ रखो, समग्र जगत हमारा है ।

६२१—तुमने अच्छा-बुरा जो कुछ भी किया है, उसके सम्बन्ध में सोचना बिल्कुल वन्द कर दो ।

६२२—हम जो कुछ जानते हैं, सब आत्मा ही का वहीः—प्रसारण है, विस्तार स्वरूप है ।

६२३—हम सब सर्वत्र एकत्व का दर्शन करते हैं तब हमारे शरीर की भी मृत्यु नहीं होती, और न मन ही की । जगत के सभी शरीर हमारे हैं, अतएव हमारा शरीर भी नित्य है ।

६२४—कोई भी व्यक्ति ब्रह्मविद की कुछ भी

सहायता करने में समर्थ नहीं हो सकता । समग्र प्रपंच ही उसके सामने प्रणत रहता है ।

६२५—ईश्वर को अवश्य प्राप्त करूँगा—केवल उन्हीं को चाहता हूँ—यह कह कर दृढ़ भाव से खड़े ही जाओ । संसार को उड़ जाने दो । ईश्वर और संसार इन दोनों के बीच किसी प्रकार का समझौता मत करो ।

६२६—यदि सत्य समस्त जगत का ध्वंस करता है तो भी सत्य ही है । इस सत्य को पकड़े ही रहो ।

६२७—अच्छा और बुरा ये दोनों अच्छेद्य भाव से जड़ित हैं । एक को लेने पर दूसरे को लेना ही होगा ।

६२८—कभी भी यह मत सोचो कि तुम जगत को अच्छा और सुखी बना सकते हो ।

६२९—नानात्व दर्शन ही जगत में सबसे बड़ा पाप है । सभी को आत्मा-रूप में देखो तथा सभी से प्रेम करो । भेद-भाव को पूर्ण रूप से दूर कर दो ।

६३०—सब चोर और खूनी, सब अन्यायी और पतित, सब बदमाश और राक्षस मेरे लिये ईश्वर हैं । देव रूपी ईश्वर तथा दानव रूपी ईश्वर दोनों ही मेरे लिये आराध्य हैं । ये सभी मेरे गुरु हैं ।

६३१—यदि बुद्धि और शुद्ध हृदय में विरोध हो तो तुम अपने शुद्ध हृदय का ही अनुसरण करो भले

ही तुम्हें हृदय का कथन तर्क विरुद्ध मालूम हो । जब हृदय परोपकार करने की इच्छा करे तो बुद्धि तुम्हें बतला सकती है कि ऐसा करना अविचार है, लेकिन तुम हृदय की सुनो और इससे तुम देखोगे कि बुद्धि की सुन कर तुम जितनी गलतियां करते थे उससे कम गलतियां करोगे । शुद्ध हृदय ही सत्य के प्रतिबिम्ब के लिये सर्वोत्तम दर्पण है ।

६३२—अगर मनुष्य को यहां से वहां तक एक ही सत्ता का ज्ञान हो तो फिर भय कहां से आ सकता है ? जब सर्वत्र एक ही सत्ता है तो फिर डर कहां से आ सकता है ?

६३३—अगर मेरे सिर पर वज्रपात हो जाय, तो वह वज्र भी तो मैं ही हूं, क्योंकि विश्व में केवल मैं ही मैं हूं विद्यमान हूं । अगर प्लेग आये तो वह भी मैं ही हूं और अगर शेर आये तो वह भी मैं ही हूं । अगर मृत्यु आये तो वह भी मैं ही हूं, मृत्यु और जीवन दोनों मैं ही हूं ।

६३४—जब हमें यह बोध होता है कि दुनियां में द्वैत है तो डर पैदा हो जाता है ।

६३५—मैं कैसे मर सकता हूं, मेरे सिवाय तो कुछ है ही नहीं । इस विचार से जब भय का अन्त हो जाता

है तभी पूर्ण आनन्द और सच्चे प्रेम की प्राप्ति होती है ।

९३६—मुझे कभी न संशय था, न भय । मृत्यु मुझे कभी छू न पाई । मेरे पिता माता कहां ? मैं तो अजन्मा हूं । मैं ही सब कुछ हूं, फिर मेरा शत्रु कौन ? मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूं । 'सोऽहम्, सोहऽम्' । काम, क्रोध, ईर्ष्या कुविचार आदि ने मुझे कभी स्पर्श नहीं किया । क्योंकि मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप हूं । सब दुःखों पर यह एक अमोघ उपाय है । यही वह अमृत है जो मृत्यु को जीत लेता है ।

९३७—मुझे न भय है, न संशय, न मृत्यु, मैं जाति वर्ण सबके अतीत हूं । कौन सा पथ मुझे अपना सकता है ? सब पथों मैं अनस्यूत हूं ।

९३८—अनेकों बार मैं मृत्यु मुख में पड़ा हूँ । क्षुधातुर रहा हूं, पैर फटे हैं और थकावट आई है, लगातार कई दिनों तक मुझे अन्न नहीं मिला और अकसर मैं एक पग भी न चल सकता था, मैं पेड़ के नीचे बैठ जाता और ऐसा मालूम होता था कि अब प्राण निकले बोलना मुझे कठिन हो जाता था और मैं विचार तक न कर सकता । अन्त में मेरा मन इस विचार पर लौट आया, मुझे डर कहां मैं कैसे मर

सकता हूं ? मुझे न कभी भूख लगती है न प्यास । मैं तो वही हूं । यह सम्पूर्ण विश्व मुझे कुचल नहीं सकता, वह तो मेरा दास है । ऐ परमेश्वर ! ऐ देवों के देव । तू अपनी हुक्मत चला और हाथ से गया हुआ साम्राज्य फिर से प्राप्त कर । उठ खड़ा हो चल और बीच में ठहरना मत । ऐसा विचार आने पर मैं नव चैतन्य पा उठ खड़ा होता । इस तरह जब जब अंधकार का आक्रमण हो, तो अपनी आत्मा की हुक्मत चलाओ और जो कुछ प्रतिकूल है नष्ट हो जायगा, क्योंकि आखिर यह सब स्वप्न ही है ।

६३६—आपत्तियां पर्वत जैसी भले ही हों सब कुछ भयावह और अंधकार पूर्ण भले ही दीखे, पर जानलो सब माया है । डरो मत, यह भाग जायगी । इसे कुचलो, और लुप्त हो जायगी । इसे टुकराओ और यह मर जाती है । डरो मत, कितनी बार असफलता मिलेगी यह सोचो चिन्ता न करो । काल अनन्त है । आगे बढ़ो पुनः २ हुक्मत चलाओ प्रकाश अवश्य ही आवेगा ।

६४०—तुम चाहे किसी की भी प्रार्थना करो, पर कौन आकर तुम्हें सहायता देगा ? जिसने स्वयं मृत्यु से छुटकारा नहीं पाया, उससे तुम किस प्रकार सहायता

की आशा कर सकते हो ? स्वयं ही अपना उद्धार करो, दूसरा कोई तुम्हें मदद नहीं पहुंचायेगा । तो फिर आत्मा का आश्रय लो । उठ खड़े हो, डरो मत ।

६४१-दुर्बलता के कारण ही मनुष्य पर सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख आते हैं । दुर्बलता ही मृत्यु है ।

६४२-करोड़ों दुःख रूपी कीटाणु तुम्हारे आस-पास क्यों न घूमते रहें, पर कुछ चिन्ता न करो । जब तक तुम्हारा मन कमजोर नहीं होता । तब तक उनकी हिम्मत नहीं कि वे तुम पर हमला करें । यह एक बड़ा सत्य है कि बल ही जीवन है और दुर्बलता ही मरण ।

६४३-चाहे हमें प्रत्येक कार्य में असफलता मिले, हमारे टुकड़े २ हों जायं और खून की धार बहने लगे फिर भी हमें अपना हृदय थाम कर रखना होगा । इन आपत्तियों में ही अपने ईश्वरत्व की घोषणा करनी होगी ।

६४४-चाहे हम चीर डाले जायं और हमारे चीथड़े-२ कर दिये जायं, पर हमारा हृदय सर्वदा अधिकाधिक उदार ही होता जाना चाहिये ।

६४५-यदि तुम सचमुच निःस्वार्थी हो तो तुम

परमेश्वर के समान हो । फिर कौन-सी दुनियां तुम्हें चोट पहुँचा सकती है ? सातवें नरक में से भी बिना झुलसे, बिना स्पर्श हुए निकल जाओगे ।

६४६—किसी को चोर कहो और वह चोरी करने लगेगा यह एक निर्विवाद सच्चाई है ।

६४७—हम स्थूल जगत के स्तर पर भी उस परमात्मा का अनुभव करता हूँ कि “मैं ही सबकी शासक आत्मा हूँ ।”

६४८—जब हम सबसे अभेद होते हैं तब धोखे-बाज़ हमारे पास आने का साहस नहीं कर सकते ।

६४९—अपने अनुभव की सहायता के बिना कोई मनुष्य कदापि हृदय से शुद्ध नहीं हो सका ।

६५०—रात भी उतनी प्यारी है जितना दिन, मृत्यु उतनी ही मधुर है जितना जीवन, ज्वर, भी उतना ही अभिनन्दनी है जितना स्वास्थ्य, शत्रु उतने ही प्यारे हैं जितने मित्र ।

६५१—जब तक तुम सबको अपना आप भान न करोगे, तब तक तुम सबको जान नहीं सकते । वास्तविक तथ्य में शोता लगाना, नामों और रूपों के नीचे की थाह लेना, बनों और उपवनों में, पहाड़ों और नदियों में, दिन और रात में, मेघों और नक्षत्रों में आज़ादी से

विचरना, पुरुषों और नारियों में, पशुओं और फरिश्तों में, हर एक की और सबकी आत्मा में निर्वृन्द होकर विचरना यही जीवन है, यही आत्मज्ञान है, और सच्ची वुद्धिमानी है ।

६५२—ऐसी कौन सी चोज है जो तुम्हारी प्रफुल्लता को नष्ट कर देती है ? वह है दूसरों का अस्तित्व । प्रत्येक एक दम निराला होना चाहता है । हर एक व्यक्ति एक अद्वितीय, द्वैत ही होना चाहता है ।

६५३—सारा संसार तुम्हारे भीतर है । जैसे तुम स्वप्न में यह सोचने लगते हो कि तुम कहीं जंगलों में, पहाड़ों में, नदी के तट पर विचरण कर रहे हो, जो तुम से बाहर है । किन्तु यह सब तमाशा सचमुच होता तो है तुम्हारे ही भीतर । यदि वे सचमुच बाहर होते, तो कमरा ही उनके बोझ से दब जाता, तुम्हारी चारपाई पानी में बह जाती । इसी प्रकार वेदान्त तुम्हें बतलाता है कि यह सारा संसार तुम्हारे भीतर है, सारा भौतिक और मानसिक जगत तुम्हारे अन्दर में अवस्थित है और तुम उलटे सोचते हो कि तुम उसमें रहते हो ।

६५४—यदि कोई मनुष्य पाँच दिन, उतना क्यों पाँच मिनट भी बिना भविष्य का चिन्तन किये, बिना स्वर्ग, नरक या अन्य किसी के सम्बन्ध में सोचे नि:-

स्वार्थता से काम कर सके तो वह एक महापुरुष बन सकता है ।

६५५—यदि तुम किसी की ओर होने वाली अपनी प्रशंसा में हर्षित और निन्दा से खिन्न व दुःखी होते रहते हो तो तुम परावलम्बन ही ले रहे हो । अतः अपनी स्तुति निन्दा को सुनकर धूल की तरह झाड़ दो ।

६५६—परावलम्बी होने की अपेक्षा स्वावलम्बी हो कर सत्यावलम्बी होना पुरुषार्थ की सिद्धि है ।

६५७—अपना केन्द्र, अपने से बाहर मत रखो, यह आपका पतन कर देगा । अपने में अपना पूर्ण विश्वास रखो । अपने केन्द्र पर डटे रहो । कोई चीज तुम्हें हिला तक नहीं सकेगी ।

६५८—श्रवण, मनन और निदिध्यासन से जब यह निश्चय हो चुका कि सब कुछ परमात्मा ही है तब यह भला है, यह बुरा है, इस प्रकार की दृष्टि ही क्यों हो सकती है ? यह भला है, इस प्रकार की दृष्टि तो यथा कथाचित क्षम्य भी है, परन्तु बुरे की कल्पना तो सर्वथा विपर्यय है । यदि सर्वथा समत्व न रहे, वैषम्य हो ही जाय तो अपनी दृष्टि भले पर ही जानी चाहिये । भले-बुरे की भावना और सत्ता को दृढ़

करने की क्या आवश्यकता ? उन्हें तो शिथिल करना चाहिये । यदि प्रतीत होता है भला-बुरा तो वह लोला विलास ही है । नाटक मात्र है । नाटक के भीम और दुर्योधन दोनों ही मनोरंजन के लिये हैं । नाटक की मृत्यु, रोग और उत्पीड़न रसानुभूति के लिये है । अद्भुत, रौद्र, भयानक और बीभत्स भी तो रस ही हैं । तब इनको देखकर क्षुब्ध होने का क्या कारण है ।

६५६—अपमान तो तुम्हारी आत्म ज्योति को जाग्रत करने वाला है । तुम्हारी विस्मृति को नष्ट करके स्मृति को ताजी बनाने वाला है । अपमान क्षोभ का नहीं, प्रसाद का जनक है । अपमान होते ही प्रसन्नता से खिल उठना चाहिये कि मेरी स्मृति ताजी करने के लिये साक्षात् भगवान् स्वयं आये हैं, महान सौभाग्य है ।

६६०—व्यवहारिक जगत एक नाटक है और मैं उसका पात्र तथा दृष्टा हूँ । भला बुरा कुछ नहीं सब लीला है ।

६६१—परिपूर्णतम परब्रह्म परमात्मा में द्वैत नाम की कोई वस्तु ही नहीं है फिर कौन किसका अभिमान करे ।

६६२—एक ही जड़सत्ता दो रूपों को धारण किये हुए है । वही विषय है और वही इन्द्रिय है । विषय

गत रूप और नेत्र गत रूप में कोई भेद नहीं है । ऐसी अवस्था में मन स्वतंत्र विषयों को सृष्टि करने लगता है । साधारणतः अनुभूयमान प्रपञ्च से दिल्क्षण गंध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द की संवित होने लगती है । अनेकों प्रकार के दिव्य दृश्य चित्र, विचित्र अनुभूतियां, देवता, दानव, स्वर्ग, ब्रह्म लोक आदि के दर्शन होने लगते हैं । यह सब मन के ही आकार विशेष हैं । शास्त्र, सम्प्रदाय, मत, पंथ, व्यक्तिगत जानकारी, मान्यता एवं भावनायें जो बुद्धि में संस्कार रूप से निहित रहती हैं उदय होकर एक जाल सा बिछा देती हैं और साधक को उन्हीं में नित्य बुद्धि उत्पन्न करा कर फंसा देती हैं । इस अवस्था में साधक ऐसा समझने लगता है कि अब मेरा प्रवेश दिव्य राज्य में हो गया है और मैं भगवत् सत्ता एवं भवगत्लीला का अनुभव कर रहा हूं यह भी भ्रम है । जहां तक नाम और आकृतियों का भेद है वहां तक वास्तविक सत्ता का अनुभव नहीं है । इसका निरोध आवश्यक है । तत्पश्चात् एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है इस आनन्द का भोग भी ब्रह्मचर्य का विघ्न ही है । जब आनन्द की वृत्ति भी शान्त हो जाती है, तब अस्मिता मात्र शेष रह जाती है । इस अवस्था में ऐसा

मालूम पड़ने लगता है कि अस्मिता से लेकर विषय पर्यन्त एक ही प्रकृति का जड़ सत्ता का विलास है । मैं तो केवल द्रष्टा मात्र हूँ । मैं अकर्ता, अभोक्ता अर्थात् मैं नित्य ब्रह्मचारी हूँ यह अनुभूति भी वास्तविक नहीं है । इसमें भी संस्कार शेष विद्यमान रहते हैं । विषय-गत भेद के संस्कार ईश्वर के सम्बन्ध में अन्यत्व को कल्पना और द्रष्टा की अनेक होने की भ्रान्ति इस अवस्था में विद्यमान होते हैं । कोई भी अभ्यास जन्य समाधि चाहे उसका नाम कुछ भी क्यों न रख लिया जाय अज्ञान को निवृत्ति करने में समर्थ नहीं है । उसकी निवृत्तियां तत्त्वमस्यादि महावाक्य जन्य वृत्ति ज्ञान से ही होती हैं । समाधि के द्वारा अन्तःकरण के समस्त संस्कार अथवा अशुद्धियों के धुल जाने पर स्वतः सिद्ध निरुपद्रव पूर्ण बोधात्मक अखंड चिति ही शेष रह जाती है और वही आत्मा का ईश्वर का, और जगत् का भी स्वरूप है । ब्रह्मचर्य का वास्तविक स्वरूप वही है । इस पूर्ण ब्रह्मचर्य की प्राप्ति समस्त साधन वेद शास्त्र आदि का लक्ष्य है

६६३—सहज स्थिति—समाधि हो चाहे विक्षेप ब्रह्मचारी की सहज स्थिति भंग नहीं होती । उसके लिये प्रवृत्ति निवृत्ति सम है । उसके अपने स्वरूप से

भिन्न द्रष्टा, दर्शन दृश्य कुछ भी नहीं है ।

६६४—विषय की सत्ता इन्द्रियों से, इन्द्रियों की सत्ता मन से, मन की बुद्धि से और बुद्धि की ज्ञान स्वरूप आत्मा से निश्चित होती है । अज्ञान का अनुभव भी ज्ञान ही है ।

६६५—प्रमाता, प्रमाण, एवं प्रमेय की त्रिपुटी ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित होती है । इस त्रिपुटी के भाव और अभाव का प्रकाशक ज्ञान ही है ।

६६६—जगत् की परस्पर विरुद्ध घटनाओं से मेरे चित्त में कभी किसी प्रकार का क्षोभ अथवा विकार नहीं होता—मैं प्रत्येक अवस्था में ही अपनी मुक्ति को जानता और अनुभव करता हूँ ।

६६७—इन्द्रियों को और विषयों को जो है ही नहीं अपना समझ रहा था कैसी मूर्खता थी ।

६६८—हे इन्द्रियों, हे चित्त, तुम्हें तुम्हारी मूढ़ता और तुम्हारा मिथ्यात्व मालूम हो गया है ।

६६९—ये जो संसार के भय हैं ये तो वासना मूलक अतएव निर्मूल है क्योंकि वासनाओं से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है । वासनाओं का दादा अज्ञान भी मेरा स्पर्श नहीं कर सकता । अज्ञान और उसके बाल बच्चे (अहंकार से लेकर विषय पर्यन्त) रहे या न रहे । मैं

निर्लिप्त आत्मा हूं । क्या जन्म और मृत्यु मेरा स्पर्श कर सकते हैं ?

६७०—जहां एक ही वस्तु है अपना ही है, अपने सिवाय और कोई नहीं है, वहां निन्दा किसकी । भय किसका ? तो भी जो निन्दा करते हैं वे अपने स्वरूप को न जानकर ही करते हैं । जैसे कोई मनुष्य किसी भ्रम के कारण अपने ही हाथ को सर्प जानकर डगने लगे । जहां मन होता है वहां सुख-दुःख का भान होता है, जाग्रत-स्वप्न में मन उपस्थित रहता है, इसलिये क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म भोग दीख पड़ते हैं । जब सुषुप्ति अवस्था में मन लीन हो जाता है तब वहां सुख-दुःख का भोग भी नहीं दीखता । इस प्रकार सुख-दुःख रूपी कर्मफल का भोगने वाला मन ही है । जैसे दर्पण में अनेक पदार्थ दिखते हैं । परन्तु दर्पण में दिखने वाले पदार्थ दर्पण को छोड़कर उससे भिन्न पदार्थ नहीं होते इसी प्रकार मैं आदर्श स्वरूप हूं । माया की कल्पना से किये हुये विविध प्रकार के माया के चित्र मुझ में दिखते हैं । जैसे बाहर के चित्रों का कोई भी चिन्ह आदर्श में आकर नहीं टिकता । इसी प्रकार अनन्त प्रपंच दीखते हुए भी मुझ में नहीं टिकते । क्योंकि दिखाव मात्र है । और जिसमें दीखते है वह आत्म

स्वरूप आदर्श के समान है ।

६७१—उस भाग्यशाली साधक का अभ्यास सफलता पूर्वक चल रहा है, यह कैसे जाने ? यदि उसकी भोग-वासना दिन प्रति दिन क्षीण होती जा रही हो तो समझना चाहिए कि अभ्यास ठीक हो रहा है ।

६७२—मैं ही मैं को देख रहा था, मैं ही मैं को सुन रहा था, मैं ही मैं को स्पर्श कर रहा था, मैं ही मैं को स्वाद ले रहा था । मैं ही मैं को गंध ले रहा था । मेरे सिवाय कुछ नहीं था । केवल मैं ही मैं हूँ । इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ।

६७३—एकान्त स्थान में सुख पूर्वक बैठ कर परमात्मा में चित्त की स्थिर करके इस सब जगत् को मिथ्या समझकर ब्रह्ममय देखो ।

६७४—यह जगत्, जीव और ईश्वर सब मन की कल्पना है । एक बार उस कल्पना को छोड़कर निर्वाण पद का अनुभव करो ।

६७५—द्वैत और अद्वैत तेरा ही संकल्प है, उसको छोड़ शेष तू ही है ।

६७६—जो भला बुरा मानता है, उच्च, नीच भी विचारता है और मुख से सब ब्रह्म है ऐसा एकवाद करता है और नंगा डोलकर अपने अवधूत होने का

प्रदर्शन करता है । वह भ्रष्ट है ।

६७७—जो समस्त विहित और निषिद्ध कर्मों का त्याग कर नहीं सकता और उसका समर्थन करने के लिए कहता है कि श्रुति ने भी मेरा पार नहीं पाया ऐसी हास्यास्पद अवस्था का प्राप्त हुआ मनुष्य भ्रष्ट है ।

६७८—बड़ा बुद्धिमान बनकर यह सब आत्मा ही है ऐसा कहने लगता है परन्तु किसी की बुरी बात तो सही नहीं जाती और अपनी स्तुति सुनने के लिए दौड़ता फिरता है और सुनकर प्रसन्न भी होता है ऐसा पुरुष भ्रष्ट नहीं तो क्या है ।

६७९—धारणा को दृढ़ता और उद्देश्य की पवित्रता ये दोनों मिलकर अवश्य बाजी मार ले जाएंगी । और यदि एक मुट्ठी भर लोग इन दो शस्त्रों से सुसज्जित रहे तो वे निश्चित ही समस्त विघ्न बाधाओं का सामना कर अन्त में विजय प्राप्त कर लेंगे ।

६८०—मुझ ही में सारा संसार रहता-सहता, चलता-फिरता और जीवित रहता है । सर्वत्र मेरी ही इच्छा पूरी हो रही है ।

६८१—मेरे लिए प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है । बंधन, परिच्छिन्नता और दोष मेरी दृष्टि में आते ही नहीं । मुक्त, परम मुक्त मैं हूँ और दूसरे

लोग भी स्वतन्त्र हैं ।

६८२—कहाँ है वह तलवार जो मुझे मार सके ?
 कहाँ है वह शस्त्र जो मुझे घायल कर सके ? कहाँ है
 वह विपत्ति जो मेरी प्रसन्नता को बिगाड़ सके ? कहाँ
 है वह दुःख जो मेरे सुख में बाधा डाले ? सब भय
 मेरे भाग गये, सब शंकायें मेरी कट गईं । मेरी विजय
 प्राप्ति का दिन आ पहुँचा । कोई सांसारिक लहर मेरे
 निश्चल चित्त को आन्दोलित नहीं कर सकती । इन
 लहरों से मुझे न कोई लाभ है न कोई हानि । मुझे शत्रु
 से भय नहीं, मुझे मित्र से घृणा नहीं, मुझे मौत का
 डर नहीं, मुझे नाश का भय नहीं ।

६८३—यह सारी सृष्टि मंगलमय मालूम होनी
 चाहिए । साम्य दृष्टि आनी चाहिये । जैसे मुझे खुद
 अपने आप पर विश्वास है, वैसा ही सारी सृष्टि पर
 मेरा विश्वास होना चाहिये । यहाँ डरने की बात ही
 क्या है ? सब कुछ शुद्ध और पवित्र है । यह विश्व
 मंगलमय है क्योंकि परमेश्वर उसको देख-भाल करता
 है । संसार में कुछ भी बिगाड़ नहीं है । अगर बिगाड़
 कहीं है तो वह मेरी दृष्टि में । जैसी मेरी दृष्टि
 वैसी सृष्टि ।

६८४—यदि हमारे मन को इस बात का निश्चय

न हो कि यह सृष्टि शुभ है, तो चित्त की एकाग्रता नहीं हो सकती। जब तक मैं यह समझता रहूँगा कि सृष्टि बिगड़ी हुई है तब तक मैं संशंक दृष्टि से चारों ओर देखता रहूँगा।

६८५—आप सर्वत्र मंगलमय देखने लग जाइये, चित्त अपने आप शान्त हो जायेगा।

६८६—विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है फिर डर किसका ?

६८७—अतः संसार के बड़े-बड़े नाम और चित्ताकर्षक रूप तथा कर्तव्य मूढ़ता में डालने वाली भांति-२ की वस्तुयें इस एक ही घन सुषुप्ति का पसारा है, भयानक द्वैत केवल स्वप्नमात्र है।

६८८—जब तुम किसी सूक्ष्म विषय की छान-बीन में मग्न होते हो तो यद्यपि आंखें खुलीं हों सामने से चाहे जो निकल जाय, दिखाई नहीं देता, कान बन्द न हों, पर हल्ला गुल्ला सुनाई नहीं देता, कारण यही कि तुम ने उस ओर ध्यान नहीं दिया, तुम्हारी ओर से 'अस्तु' नहीं बोला गया। यदि रूप और शब्द तुम से अलग कुछ अस्तित्व रखते हों तो आंखें जो खुली थीं और कान भी जो खुले थे दिखाई क्यों न दिये ? सुनाई क्यों नहीं दिये ?

६८६—तेरे अस्तित्व के सिवाय कुछ भी विद्यमान नहीं है चाहे तू इस बात को अंगीकार कर चाहे न कर ।

६८७—यदि तुझे अपना प्रकाश स्वरूप दिखाई नहीं देता तो भी तेरा है और आरसी में दिखाई दे तो भी तेरा है । यदि स्वप्न में रुचिकर और चित्ताकर्षक घटनायें उपस्थित हैं तो तेरे विचार और यदि महा-भयावने रूप विद्यमान हैं तो तेरी करतूत है । वैसे ही संसार में चाहे मन भावती घटनायें हों चाहे विपत्तियाँ और आफतें हों, सब तेरी बनाई हुई हैं ।

६८८—मुझे भला कौन मार सकता है ? किस की सामर्थ्य है जो मुझे भयभीत कर सके मैं तो अजन्मा और अविनाशी आत्मा हूँ । मेरे सिवाय कुछ भी नहीं है, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है ।

६८९—तुम विचार पूर्वक सर्वथा अचिन्त्य तथा अभय रहने का अभ्यास बढ़ाओ और निरन्तर सावधान रह कर अहं में आत्मा और आत्मा में अहं को देखो, यही ज्ञान की सत्य उपासना है ।

६९०—यदि खूनी हाथ तुम्हारी गर्दन पकड़ ले तो कहो “मैं साक्षी हूँ । मैं साक्षी हूँ । कहो मैं आत्मा हूँ । कोई भी बाहरी वस्तु मुझे स्पर्श नहीं कर

सकती ।” यदि मन में बुरे विचार उठे तो बार-बार यही दुहराओ, यह कहकर उनके सिर पर हथौड़े की चोट करो कि “मैं आत्मा हूँ । मैं साक्षी हूँ । मैं नित्य शुभ और कल्याण स्वरूप हूँ । कोई कारण नहीं है कि मैं कर्म करूँ, कोई कारण नहीं जो मैं भुगतूँ, मेरे सब कर्मों का अन्त हो चुका है ।

६६४—पहले यह विश्वास करना कि “ मैं आत्मा हूँ, मुझे तलवार नहीं काट सकती, शस्त्र छेद नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकता, वायु सुखा नहीं सकता, मैं सर्वशक्तिमान हूँ, मैं सर्वदर्शी हूँ ।

६६५—ईश्वर को ही सर्वाधार समझ कर जो कुछ भी प्रारब्ध में देखना पड़े हर दशा में निर्भय सन्तुष्ट तथा प्रसन्न रहोगे । जब तुम अपने में कर्म करने को शक्ति और प्रत्येक कर्म को सिद्धि के परम-आश्रय एक परमेश्वर को ही समझोगे तभी भक्ति प्राप्त कर सकोगे ।

६६६—जब हम अपनी आत्मा में विश्वास करते हैं और आत्मा के अतिरिक्त और किसी चीज में विश्वास नहीं करते तब सब सम्पदायें हमारे पास आती हैं ।

६६७—प्रकाशों के प्रकाश तुम हो, सारी ज्योति

तुम्हारी है, इसे यहां तक अनुभव करो कि यह धरती नाम यश, सांसारिक सम्बन्ध, लोकप्रियता, अलोकप्रियता, सांसारिक मान और अपमान तुम्हारे शत्रुओं द्वारा आलोचना और मित्रों द्वारा प्रशंसा ये सब तुम्हारे लिए निरर्थक हो जाय । सफलता का यही रहस्य है ।

६६८—मेरा जीवन सत्य के लिए है । सत्य कभी भी मिथ्या के साथ मेल नहीं करेगा । यहां तक कि यदि सारी दुनियां भी सत्य के विरोध में खड़ी हो जाय तो भी अन्त में सत्य को ही विजय होगी ।

६६९—यह संसार कायरों के लिए नहीं है । भागने का प्रयत्न मत करो । सफलता या असफलता की परवाह मत करो ।

१०००—क्या तुम पूर्णतः निःस्वार्थ हो ? यदि हो तो तुम अजेय हो ।

१००१—पक्षपात ही सारी बुराइयों का प्रधान कारण है ।

१००२—दूसरों में दुष्टता मत देखो । दुष्टता अज्ञान है, कमजोरी है ।

१००३—जान लो कि सारी बुराइयों को एक ही शब्द द्वारा व्यक्त किया जा सकता है और वह है 'दुर्बलता' । समस्त असत् कार्यों के पीछे यह दुर्बलता

ही एक मात्र प्रेरक शक्ति है । यह दुर्बलता ही सारी स्वार्थपरता की जड़ है । इस दुर्बलता के कारण ही मनुष्य अपने वास्तविक स्वरूप को प्रकट नहीं कर पाता ।

१००४—ऐ महान ! अपनी सर्वशक्तिमान प्रकृति को उद्बुद्ध करो । तुम्हीं में तो सारी शक्ति निहित है । देखोगे, यह सारी दुनियाँ, तुम्हारे पैरों पर लोटने लगेगी । एक मात्र आत्मा ही शासन करती है, जड़ पदार्थ क्या शासन करेगा ।

१००५—मैं तू यानि मनुष्य की आंख से दिखने वाला सारा जगत् अर्थात् सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है । इन सब में एक ही शुद्ध और नित्य परब्रह्म भरा करता है और उसी की माया से मनुष्य की भिन्नता का भास हुआ है ।

१००६—मन से दुःखों का चिन्तन न करना ही दुःख निवारण की अचूक औषधि है ।

१००७—जहां भी मन है वहां संसार है, मन नहीं रहने पर संसार भी नहीं है । यह संसार मन का संकल्प मात्र है ।

१००८—जिससे डरना है या जिस का शोक करना है वह तो अपने से जुदा होना चाहिये और

ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव हो जाने पर इस प्रकार की किसी भी भिन्नता को अवकाश ही नहीं मिलता जैसा कि सृष्टि में कोई भिन्नता नहीं रहती तो भय भी नहीं होता ।

१००६—जब तक यह बुद्धि बनी है कि मैं अलग हूँ और दुनिया अलग है तब तक कुछ भी क्यों न किया जाय ब्रह्मात्मा का पूरा ज्ञान होना सम्भव नहीं है ।

१०१०—जिसे यह मालूम हो चुका है कि सब कुछ आत्मामय है उसे प्राप नहीं लग सकता (अथवा उसे पुण्य-पाप कहाँ ?)

१०११—जो मनुष्य इस तत्त्व की पहचान कर आचरण किया करता है कि सब प्राणियों में एक ही आत्मा है, उसी के आचरण को सदाचरण या मोक्षानुकूल आचरण कहते हैं और जीवात्मा का भी यही स्वतन्त्र धर्म है कि ऐसे आचरण का आरंभ देहेन्द्रियों को प्रवृत्त किया करे ।

१०१२—सत्य पर डटे रहने का आग्रह करो तो विदित होगा कि तुम किसी साधारण लोक में नहीं रहते हो । दुनियां तुम्हारे लिये अद्भुत चमत्कारों की दुनिया बन जायगी । तुम्हारे चारों ओर अलौकिक

घटनाये घटेंगी और धिक्कार है उन देवताओं को जो तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति में तुम्हारी खिदमत न करें।

१०१३—यदि लौकिक आसक्तियों और स्वार्थमयी इच्छाओं से आप अपने को आजाद कर लें, तो फिर सत्य पाने की बात ही क्या है ? आप स्वयं इसी क्षण सत्य हैं।

१०१४—जब प्रलयकाल की पवन चले, अरु पुष्कर मेघ को वर्षा होवे, बड़वाग्नि लगे, अरु द्वादस का सूर्य तपे तो ऐसे क्षोभ विषे भी ज्ञानी पुरुष चलायमान नहीं होता, काहेते हैं कि सर्वब्रह्म रूप जानता है। दुःख तब होता है जब आत्मा से इतर भासता है, सो उस को आत्मा से इतर कुछ नहीं भासता।

१०१५—जहां भिन्नता दिखाई देती है, वहां एक दूसरे को देखता है, वहां एक दूसरे को सूँघता है, वहां एक दूसरे का रस लेता है, वहां एक दूसरे की चर्चा करता है, वहाँ एक दूसरे की सुनता है, वहां एक दूसरे को चिन्ता करता है, वहाँ एक दूसरे को छूता है, वहाँ एक दूसरे को जादता है।

१०१६—किन्तु जहां सब कुछ आत्मा ही आत्मा

हो, वहाँ किसको किससे देखे ? किसको किससे सूँघे ? किस को किस से रस लेवे ? किस को किस से चर्चा करे ? किस से किसकी सुने ? किससे किसकी चिन्ता करे ? किस को किस से छुए ? किस को किस से जाने ? जिससे यह सब कुछ (वस्तुयें) जानी जाती हैं उसको किससे जाने ? वह जानने वाला (ज्ञानस्वरूप) किस से जाना जाय ?

१०१७—यदि यों कहो कि आत्मा वहाँ सुषुप्ति में) कुछ नहीं देखता तो (यद्यपि नहीं देखता पर) देखता हुआ नहीं देखता है, क्योंकि द्रष्टा स्वभाव आत्मा में देखने की शक्ति कभी नष्ट नहीं, वह अविनाशो है, किन्तु वहाँ दूसरा कोई है ही नहीं, आत्मा से भिन्न नाम और चिन्ह (रूप) वहाँ लुप्त हैं अतः आत्मा देखे किसको ? आदि ।

१०१८—जेते कुछ सुन्दर पदार्थ दृष्टि आते हैं सो मिथ्या है तिनके निमित्त यत्न करना परम आपदा है ये कैसे पदार्थ हैं, आपात रमणीय है जो देखने मात्र सुन्दर है ।

१०१९—जो कोई तुम को उपदेश करता है सो सुन तेरा जो कोई बड़ा पुण्य है, सोई सुद्ध संवित हो कर मलीन संवित को उपदेश करता है सो संवित न

देवता है, न मनुष्य है, न यक्ष है, न राक्षस है ।
पिशाच आदिक भी नहीं है, केवल ज्ञान मात्र है,
सो भी तू ही है, अरु मैं भी वही हूँ अरु जगत्
भी वही है जो सर्व बही है तो वासना किस की
करनी है ।

१०२०—जगत् पांच भौतिक है सो मन इन्द्रियों
का विषय है अरु आत्मपद है, सो मन इन्द्रियों का
विषय नहीं ।

१०२१—हे राम जो ! मैं भी आकाश रूप हूँ तू
भी आकाश रूप है सब जगत् भी । आकाश रूप है,
किसी के साथ आकार नहीं, सब निराकार रूप है,
अरु जो तू कहे बोलते-चालते क्यों हैं तो जैसे स्वप्न
विषय सब आकाश रूप होते हैं अरु नाना प्रकार के
चेष्टा करते दृष्ट आते हैं परन्तु आकाशरूप हैं ।

१०२२—अर्ध रात्रि को जो कोई उठता है, इन्द्रियों
की चपलता का विषय से अभाव होता है, अफुर
सत्ता तिस काल में होती है सो चिदाकाश है ।

१०२३—दृश्य में प्रीति न रहना यही असली
वैराग्य है ।

१०२४—जिसे विवेक हुआ है उसे यह बोध निरंतर
रहता है कि सारा प्रपंच मुझसे भिन्न नहीं है । उस

के लिये केवल एक हो सत्ता रह जाती है ।

१०२५—रोग हमें दबाना चाहता है, उससे हमारा विचार मन्द भी पड़ जाता है । इस लिये उस को निवृत्ति अवश्य करना चाहिये । परन्तु विचारवान् पुरुष उसी के पीछे नहीं पड़ जाता वह तो यही देखता है कि भयंकर दुःख के समय भी उसका विचार तो नहीं छूटता । वह कभी हाय-हाय करके प्राण नहीं देता । क्योंकि वह जानता है कि रोग उसका दास है । वह कैसा भी भय दिखलावे उसके ऊपर प्रभाव नहीं डाल सकता ।

१०२६—यदि हम स्वप्न में ऐसा विचार करने लगे स्वप्न क्या है और स्वप्न द्रष्टा क्या है तो उस अवस्था में भी उनका विवेक हो ही सकता है तथा उसी समय यह भी सिद्ध हो सकता है कि जीव, प्रकृति और ईश्वर यह तीन तत्व हैं परन्तु विचार किया जाता है तो वह स्वप्न द्रष्टा से भिन्न हैं ? स्वप्न द्रष्टा तो समग्र रूप है अतः सिद्धांत यही है कि यह सब कुछ द्रष्टा ही है ।

१०२६—परमार्थ तत्व के विषय में तीन पक्ष हैं ।

(१) मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं है ।

(२) सब मैं ही हूँ ।

(३) सब वासुदेव ही है ।

विचार से देखा जाये तो तीनों एक ही हैं ।

१०२८—बोधवान की दृष्टि में सारा प्रपंच बोध स्वरूप है । इसमें सब प्रकार के पाप-पुण्य, निन्दा-स्तुति, राग-द्वेष और दैवी एवं आसुरी प्रकृतियों की प्रतीति हो रही है । इसी से क्या वह उसकी सत्ता स्वीकार कर लेता है ? सारे प्रपंच को माया के विलास समझने के कारण उसे किसी भी घटना से कुतूहल नहीं होता । यदि सूर्य शीतल किरणों वाला हो जाय, चन्द्रमा तेजो से तपने लगे और अग्नि नीचे की ओर फैलने लगे तो भी जीवन मुक्त महात्मा को कोई आश्चर्य नहीं होता । ऐसे महात्मा लोग स्वभाव से निर्भीक होते हैं । संसार की बड़ी से बड़ी आपत्ति उन्हें अपने निश्चय से चलायमान नहीं कर सकती ।

१०२९—प्रश्न—राग द्वेष के अत्यन्ताभाव का क्या उपाय है ।

उत्तर—उपाय यही है कि सारे प्रपंच को मनो-राज्य देखे । निन्दा-स्तुति और राग-द्वेष से प्रपंच में सत्यत्व दृढ़ होता है ।

१०३०—सम्पूर्ण प्रपंच बोधवान का ही संकल्प है । सारी सृष्टि जल से तरंग के समान उससे भिन्न

नहीं है । जो कुछ है सब वही है । उन की सृष्टि ही सृष्टि है । उसका जो चिन्तन है वही सृष्टि है ।

१०३१—जिस समय हमें कोई कत्ल करने को तैयार हो और हम प्रसन्नता से उसके लिये तैयार रहें—हमारे हृदय में किसी प्रकार का भय या विषाद उत्पन्न न हो, उस समय समझना चाहिये कि हमने राग-द्वेष पर विजय प्राप्त की है । अथवा जिस समय हमारी दृष्टि पड़ते ही सिंहादि हिंसक जीवों की हिंसा वृत्ति दूर होजाय, उस समय राग-द्वेष का अभाव समझना चाहिये ।

१०३२—आत्मा से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, इसी का नाम आत्म निष्ठा है ।

१०३३—हमारा मनोराज्य हमसे भिन्न तो नहीं होता । भिन्न वही वस्तु हो सकती है जिसका कोई दूसरा बनाने वाला हो, यह संसार मेरा ही संकल्प है । अतः यह मेरे से भिन्न नहीं है ।

१०३४—श्रुति कहती है कि ब्रह्मवेत्ता से सम्पूर्ण चराचर जीव प्रेम करने लगते हैं । इसका कारण यह है कि उसका किसी में राग-द्वेष नहीं रहता, क्योंकि उसकी दृष्टि शारीरादि से अनात्म पदार्थों से उठ जाती है । वह सम्पूर्ण जगत् को अपना आप ही समझता

हैं । उसकी दृष्टि सर्वदा 'दृष्टि सृष्टिवाद' पर रहती है । वह समझता है कि सारा प्रपञ्च मेरी ज्ञान दृष्टि का ही चमत्कार है, परन्तु यह दृष्टि सृष्टिवाद अभ्यास की चोज नहीं है । असंगतता का अभ्यास करते करते अपने को पूर्णतया असंग अनुभव करने पर यह दृष्टि स्वयं सिद्ध हो जाती है, क्योंकि उस समय अभ्यास से यह बात दृढ़ हो जायगी कि मैं चराचर का द्रष्टा हूँ और सम्पूर्ण दृश्य मरु भूमि का जल है ।

१०३५—चार बातें सदा याद रखो—

[१] संसार को दुःख रूप समझना ।

[२] उसे स्वप्नवत समझना ।

[३] उसे भगवान की माया समझना ।

[४] उसे आत्मा को तरंग समझना ।

१०३६—यह बात निश्चित ही है कि सम्पूर्ण प्रपञ्च आकाश के भीतर है । जो वस्तु आकाश में होती है वह वस्तुतः होती नहीं है । क्योंकि उसके निमित्त और उपादान कारण का अत्यन्त अभाव है । आत्मा में एक शक्ति वृत्ति होती है यहा सम्पूर्ण प्रपञ्च को विषय करती है । जितने भाव पदार्थ हैं वे अभाव के भीतर हैं । इसलिए वह वृत्ति पहले अभाव को ही ग्रहण करती है फिर अभावाकार होकर उन पदार्थों को

अनुभव करती है । इस प्रकार अभाववृत्ति भाव पदार्थों की साक्षी है और आत्मा अभाववृत्ति का साक्षी है । इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा सम्पूर्ण पदार्थों से सर्वथा असंग है । अभाव वृत्ति के साथ तादात्म्य होने से ही उसे अन्य पदार्थों की प्रतीति होती है ।

१०३७—जब संसार है ही नहीं तो फिर उसका चिन्तन ही क्यों करते हो ?

१०३८—मेरे से अतिरिक्त वस्तु न हुई है और न होगी, जितना भी कर्तापन-भोक्तापन है वह सब प्रतीति मात्र है—इसी का नाम ब्रह्मानन्द है यहां सम्पूर्ण प्रपंच का अभाव रहता है ।

१०३९—विवेकी के लिए तो दृष्टि ही सृष्टि है अर्थात् मन संकल्प हो संसार है और निःसंकल्प ही शान्ति है । चिन्तन ही जगत् है और यही विघ्न है तथा चिन्तन का अभाव ही शान्ति है और यही विवेकी का मुख्य कर्तव्य है ।

१०४०—सारा दृश्य अपनी ही दृष्टि का विलास है । सारा दृश्य शून्य रूप है ।

१०४१—स्वप्न द्रष्टा तुम्हीं हो और यह संसार तुम्हारा ही स्वप्न है । बस जिस समय तुम्हें यह ज्ञान हो जायगा उसी समय तुम्हारी मुक्ति हो जायगी ।

१०४२—योगी को ध्यान के समय कुछ भी चिन्तन न करना चाहिये । सर्वदा शून्य पर (शून्य परायण अथवा शून्यातीत रहना चाहिये ।)

१०४३—ज्ञानी अपने से भिन्न सबको भूल जाता है और भक्त अपने आपको ही भुला देता है ।

१०४४—कितना भी चमत्कार हो अपने लक्ष्य से न हटो ।

१०४५—विरक्त साधु को तीन बातों पर अवश्य ध्यान रखना चाहिए ।

(१) विद्याभिमानी पंडितों के साथ न रहे ।

(२) गोशाला, पाठशाला, मन्दिर अथवा स्थान धारी साधुओं के साथ न रहे । इन स्थानों में रहने से विरक्त के मन में भो काम करने की प्रवृत्ति जाग्रत होगी ।

१०४६—किसी एक स्थान या व्यक्ति का होकर न रहे । ऐसा होने पर उस व्यक्ति या स्थान से राग हो जाता है ।

१०४७—साधु को फलाहारी, लवणत्यागी, दुग्धाहारी, या मौनी होकर नहीं रहना चाहिये । इससे व्यर्थ अभिमान हो जाता है ।

१०४८—ज्ञानी की दृष्टि ही सृष्टि है । उसकी

दृष्टि की निवृत्ति सम्पूर्ण प्रपंच की निवृत्ति है ।

१०४६-मैं सम्पूर्ण प्रपंच से भिन्न हूं, ऐसी भावना करने से चित्त की साम्यावस्था हो जाती है यही चित्त की निर्विशेष स्थिति है । इसका अभ्यास अधिक बढ़ने पर चित्त विलीन हो जाता है ।

१०५०-आसन स्थिर करने के लिये ऐसा संकल्प करना चाहिये कि जिस प्रकार पृथ्वी को धारण करने पर शेष जो बिलकुल नहीं हिलते, उसी प्रकार मैं भी स्थिर रहूंगा मैं शरीर और प्राण का द्रष्टा हूं ।

१०५१-दृश्य या अनात्म वर्ग से विवेक करते समय पहले तो ऐसी भावना करो कि मैं रूप से अलग हूं, अर्थात् काला, पीला, नीला, हरा, लाल जो कुछ भी दिखता है । उस सबसे अलग हूं । फिर ऐसा विचारो कि सुख-दुःख, राग-द्वेष, हर्ष-शोक जो कुछ भी मन की कल्पना है उन सबसे भी मैं अलग हूँ ।

१०५२-(१) संसार मिथ्या है, यह मन्द ज्ञानी की धारणा है ।

(२) संसार स्वप्नवत् है यह मध्यम ज्ञानी की धारणा है ।

(३) संसार का अत्यन्ताभाव है अर्थात् संसार कभी हुआ ही नहीं । यह उत्तम ज्ञानी की धारणा है ।

१०५३—यदि तुम भक्ति-मार्ग में हो तो यह सब भगवान की सृष्टि है, इसलिए तुम किसी की भी निन्दा नहीं कर सकते । और यदि ज्ञान मार्ग में हो तो यह अपनी ही सृष्टि है, फिर अपनी ही बुराई तुम कैसे करोगे ? अतः दोनों ही मार्गों में दूसरे को निन्दा करने का अवकाश नहीं है ।

१०५४—गुण दोषों से रहित समदर्शी मुनि को उचित है की किसी के भले या बुरे कर्म करने पर अथवा बाणी से भला या बुरा बोलने पर न तो स्तुति करे न निन्दा ही । मुनि को चाहिये किसी प्रकार का भला या बुरा कर्म न करे, न भला बुरा कहे और न चित्त में ही विचारे, आत्मा में रमण करता हुआ उदासीन वृत्ति से विचारे ।

१०५५—द्रष्टा एक है । दृश्य अनेक है । द्रष्टा विकार रहित है और दृश्य विकार सहित हैं । दृश्य मायिक जड़ दुःख रूप है । द्रष्टा तत्त्व स्वरूप चैतन्य स्वरूप और सुख स्वरूप है ।

१०५६—दृश्य में द्रष्टा का भान और द्रष्टा में दृश्य का भान हो रहा है, इस गड़बड़ी का नाम अविवेक है (अज्ञान है) और द्रष्टा को द्रष्टा और दृश्य को दृश्य समझने का नाम विवेक (ज्ञान) है ।

१०५७—सम्पूर्ण जगत माया अविद्या का कार्य है । इससे उनके सब पदार्थ माया स्वरूप ही है और उन पदार्थों की आकृति आदि जो है, वह रूप भी माया स्वरूप है । सम्पूर्ण माया दृश्य है, इसीसे उनमें का रूप भी दृश्य है । इसी प्रकार रूप की अनेकता है । सम्पूर्ण पदार्थ माया के होते हुए भी माया स्वयं अस्तित्व रहित है वह स्वयं भी चेतन के आधार में है ।

१०५८—नाम और रूप माया स्वरूप है और मिथ्या है । नाम और रूप में नाम सृष्टि का और रूप ईश्वर सृष्टि का है ।

१०५९—रूप अनेक है और उनका द्रष्टा नेत्र एक है ऐसा कहने से नेत्र की ही पदार्थों के रूप में अनेकता है ऐसा न समझना चाहिये । यहाँ नेत्र का कथन सब इन्द्रियों के निमित्त है ।

१०६०—जैसे सबको स्वप्न कल्पित संसार झूठा होता है, उसमें शंका नहीं होती । वैसे ज्ञानी पुरुष को सम्पूर्ण जगत शंका रहित झूठा है । अन्तर में दृढ़ता से झूठा हुआ है । इसी से व्यवहार होते हुए भी अन्तर चालित नहीं होता ।

१०६१—ज्ञानी पुरुष आत्मबोध के पश्चात् सम्पूर्ण व्यवहार को देखता है । व्यवहार करता है तो भी

उसे परमार्थिक सत्य है ऐसा कभी भी नहीं मानता, दोखता है सब होता है, परन्तु वास्तविक यह कुछ भी नहीं है । ऐसा मिथ्यात्व का परिपक्व निश्चय होता है । किसी अवस्था में भी जगत सच्चा है ऐसी भूल नहीं होती । अपना और औरों के व्यवहार को भी देखने मात्र से ही मानता है सच्चा नहीं । ऐसे व्यावहारिक चिदाभास को भी मिथ्या ही मानता है और सुख-दुःख जन्म-मरण भी चिदाभास से होने वाले परमार्थिक में मिथ्या ही है । वास्तविक तत्व अद्वैत परब्रह्म ही है ऐसे जानता है ।

१०६२—याद रखो—परिस्थिति के सम्बन्ध में तुम्हारे मन की कल्पना तो है ही पर यदि वह आती है तो भी तुम्हारे लाभ के लिए ही आती है । तुमको चाहिये कि तुम न तो अनुकूल परिस्थिति की इच्छा करो, न प्रतिकूल परिस्थिति से भय करो । जो भी परिस्थिति आ जाय उसी से लाभ उठाओ ।

१०६३—याद रखो—प्रत्येक परिस्थिति को उसे अनुकूल प्रतिकूल न मान कर परमात्मा की माया समझो, उसे केवल देखते रहो और किसी भी परिस्थिति से जरा भी प्रभावित न होकर आत्मस्वरूप में स्थित रहो ।

१०६४—प्रतिबिम्बित मुख दिखाई पानों या दर्पण के बीच में देता है किन्तु वह प्रकाश वस्तुतः रहता पानी या शीशे के बाहर ही बाहर है । वह छाया जो पानी या दर्पण के बीच में दिखाई पड़ती है, सत्य नहीं होती ।

१०६५—स्वप्न में वस्तुओं का दृष्टिगोचर और जाग्रत में संसार का भान होना यह पुरुष का प्रकाश माया के स्फटिक में से गुजर जाने के कारण से है । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, चित्र विचित्र रंग (आभास) क्या है । केवल पुरुषोत्तम के प्रकाश का आविर्भाव माया के स्फटिक में से बार बार गुजरा हुआ । ये स्फटिक अनन्त हैं अर्थात् शरीर बहुसंख्यक हैं किन्तु पुरुषोत्तम (सूर्य) एक ही है । प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण से उस एक ही पुरुषोत्तम का प्रकाश निकल कर भांति २ की शोभा बना रहे हैं ।

१०६६—तुम्हारा देखना ही सृष्टि का प्रत्यक्ष होना है, दृष्टि ही में सृष्टि है । ज्ञाता और ज्ञेय पृथक् पृथक् नहीं है । सबका अस्तित्व तेरे स्वरूप पर स्थिर है, तेरे 'अस्तु' का भिखारी है । हमारा साक्षी बनना और उनका विद्यमान होना दोनों सापेक्षक है ।

१०६७—चराचर को विचलित कर देने वाले प्रलय कालीन विस्फोट के होने पर भी जिसका चित्त क्षुब्ध

नहीं होता वह महात्मा कहा जाता है ।

१०६८—दृष्टि सृष्टि वाद को रीति से प्रत्येक अवस्था चेतन की केवल दृष्टि मात्र है । वह नवीन हो भासती है । जिस समय जिस अवस्था की स्फूर्ति होती है, उसी समय उनके पदार्थ, पदार्थ ज्ञान में उपयोगी त्रिपुटी और अनुभूत पदार्थों को स्मृति का भी स्फुरण हो जाता है अतः प्रत्येक अवस्था की स्फूर्ति के समय उसमें प्रतीत होने वाले पदार्थ, संस्कार एवं स्मृति आदि भी नवीन ही स्फुरित होते हैं ।

१०६९—जिसका चित्त विषय शून्य और हृदय शान्त है, उसका सारा सन्सार मित्र हो जाता है और मुक्ति भी उसकी मुट्ठी में आ जाती है ।

१०७०—चाहे करोड़ों शत्रु उपस्थित हों उनसे प्रेम ही करना चाहिए । चाहे करोड़ों मित्र आ जायें उनसे राग नहीं करना चाहिए । जो मान के इच्छुक हैं उन्हें मान देना चाहिए तथा और भी जो व्यक्ति हमसे जिस वस्तु की इच्छा करे उसे यथा सम्भव वह वस्तु दे देनी चाहिए ।

१०७१—यह संसार असत् है इसी का नाम ज्ञान है और संसार की सत्ता मानना ही अज्ञान है ।

१०७२—जब तक किसी प्रकार का भय है तब

तक तो तत्त्व ज्ञान की गंध भी नहीं । जब संसार से निर्भय हो जाय और संसार को तृणवत् समझे तभी कोई ज्ञानी हो सकता है ।

१०७३—विचार करो समस्त दृश्य जगत् संकल्प से पूर्ण है । जैसा संकल्प करोगे ठीक उसी भांति दृष्टिगोचर होने लगेगा । संकल्प समुद्र के जल की बूंद के समान है अनन्त संकल्प समूह ही संसार है । वास्तव में संकल्प से भिन्न कुछ नहीं है ऐसा विचार करके विश्व प्रपंच की आसक्ति का नाश कर दो ।

१०७४—चाहे आंखें खुली रखो, चाहे बंद, आवश्यक्ता है चेष्टा शून्य हो जाने की । इस अभ्यास से सारी बीमारियां दूर हो जायेंगी ।

१०७५—शरीर में जो भारीपन होता है वह वायु और कफ के कारण होता है । पित्त अर्थात् गर्मी के बढ़ जाने पर शरीर हल्का हो जाता है । गर्मी को ही बिजली भी कहते हैं । आसन और प्राण के स्थिर होने पर शरीर में बिजली पैदा होती है । यदि शरीर से कोई भी क्रिया की जाती है तो उसके साथ बिजली निकल जाती है । बिजली को रोकने से शरीर निरोग हो जाता है

१०७६—मैं ब्रह्म हूं तथा यह सर्व विश्व मेरे विषे कल्पित है ।

१०७७—जो जो पादार्थ दृश्य होवे हैं सो सो मिथ्या ही होवे हैं । जैते शुक्ति, विषे प्रतीत हुआ रूप दृश्य होने से मिथ्या ही है ।

१०७८—समस्त चिकित्सा, समस्त आकर्षण (चुम्बकत्व) और समस्त वशीकरण शास्त्र का रहस्य यही है तू अपने को समग्र निश्चय कर, फिर वास्तव में समग्र तू ही है । यही तत्त्व है । इसी तत्त्व में तू वास कर, अनुभव कर कि “मैं समग्र हूं” “मैं सर्व-शक्तिमान हूं ।” “मैं परमेश्वर हूं ।” जब तक अपने सिवाय कोई दूसरी वस्तु भान होती है, तब तक आप सीमा बद्ध और अशांत हैं ।

१०७९—स्वप्न के पदार्थ स्वप्न में सच्चे प्रतीत होते हैं । स्वप्न में स्वप्नावस्था के पदार्थ भूठे हैं, यदि कोई यह जानना चाहे तो जान नहीं सकता । स्वप्न की सृष्टि थोड़ी देर की और विचित्र होती है । जब आदमी जागता है तब जानता है कि चारपाई पर पड़ा हूं, मेरे भीतर स्वप्न हुआ, स्वप्न के पदार्थ, देश-काल और सब क्रिया मेरे सिवाय और कुछ नहीं थीं । जैसे स्वप्न के पदार्थ भूठे हैं । इसी प्रकार तत्त्व ज्ञानी पुरुष जो अज्ञान रूपी निद्रा में से ज्ञान रूपी जाग्रत अवस्था को प्राप्त हुआ है वह ज्ञान के लक्ष्य से

कहता है कि एक ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है ।

१०८०—इन्द्रियां विषयों की द्रष्टा हैं, मन इन्द्रियों का द्रष्टा, बुद्धि मन की द्रष्टा है और अभियान बुद्धि का द्रष्टा है । जब तक हम उसे ही द्रष्टा मान लेते हैं जो दृश्य हैं, तब तक जो सर्व का द्रष्टा है उसको अथवा यों कहो कि जो सभी मान्यताओं से अतीत द्रष्टा है उसको नहीं जान पाते हैं ।

१०८१—भय का वास्तव में अस्तित्व नहीं है, क्यों-कि भगवान ने जो वस्तुयें बनाई हैं, वे सभी मंगलकारी हैं । मंगलमय भगवान ने ऐसी किसी वस्तु का निर्माण ही नहीं किया है, जिससे मनुष्य को भयभीत होना पड़े । इस संसार में केवल भगवान और उनके द्वारा निर्मित वस्तुओं का ही अस्तित्व है ।

१०८२—जिस वस्तु से आप भयभीत होते हैं, उस वस्तु में वस्तुतः उतनी शक्ति ही नहीं है कि वह आपको भयभीत कर सके । भय का वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है । भय के लिये तुम्हारे जीवन में कहीं स्थान ही नहीं है ।

१०८३—जो ज्ञानवान पुरुष हैं, तिनको जगत् सत असत कुछ नहीं भासता । केवल ब्रह्मसत्ता अपने आप

स्थित भासती है । अरु जो अज्ञानी हैं तिनको भिन्न-२ नाम रूप भासता हैं ।

१०८४—ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जिसे प्रणाम करूं, मैं सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हूँ । सब मेरी ही विभूति है, मैं ही सब हूँ ।

१०८५—सारा दृश्य शून्यरूप है । इसका कोई आधार नहीं है । इस शून्याशून्य से विलक्षण इसका आधारभूत एक मात्र मैं ही अखंड परिपूर्ण तत्त्व हूँ । मुझ से भिन्न और कुछ है ही नहीं । ये अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड मुझ में ही अध्यस्त और इनका अधिष्ठान भूत मैं इनसे सर्वथा असंग हूँ । यह अनुभव इतना स्पष्ट था मानों नेत्रों से दिख रहा हो । ऐसा जान पड़ा मानों मैं ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का सार्वभौम सम्राट् हूँ ।

१०८६—उत्तम पक्ष तो यह है कि हम किसी को भला या बुरा न समझकर केवल भगवत् स्वरूप समझें । मध्वम पक्ष यह है कि सबको शुभ कामना से सबको हित दृष्टि से उनके कल्याण के लिये श्री हरि से प्रार्थना करें कि प्रभो ! ये जीव आपकी महिमा को न जानकर और आप ही की माया से मोहित होकर भूले हुए हैं, इसी से हमसे द्वेष करके ये अपने परलोक बिगाड़ते हैं । दयामय ! इन पर दया करो और इन्हें

प्रेम दान करो जिनसे इनकी बुद्धि शुद्ध हो और आपका आश्रय ग्रहण करके अनायास ही संसार सागर से पार हो जायं ।

१०८७—यह जीव जब तक मायातीत होकर भगवच्चरणारविन्दों को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक एक क्षण को भी निष्काम नहीं हो सकता । इसीलिये साधक में परीपकारादि भी एक प्रकार से विघ्न ही है । साधक को चाहिए कि बड़ी तत्परता से प्राणों की बाजी लगाकर अपनी सारी शक्ति साधन में लगादे । फिर भूलकर भी दायें बायें न देखे ।

१०८८—यदि शारीरिक कष्ट के समय ऐसी भावना हो जाय कि यह मेरे प्यारे प्रभु की ओर से है तो वह कष्ट तप का फल देता है ।

१०८९—साधक अपनी शारीरिक और मानसिक दुर्बलता को कभी समर्थ गुरु के सामने प्रकट न करे । उनके सामने फूल की तरह खिला रहे । इससे उनके अन्दर यह संकल्प होगा कि यह तो बड़ा ही उत्साही पुरुष है, सदा प्रसन्न ही रहता है, तो उनकी उस समय संकल्प में वह कृत्रिम प्रसन्नता भी वास्तविक प्रसन्नता में बदल जाती है ।

१०९०—यदि रोग को भी भगवान की ही देन

मान ले तो प्रारब्ध भोग भी हो जाता है और वह रोग तप का फल देता है । उससे भगवत् कृपा की ही उपलब्धि होती है ।

१०६१-तू ऐसी भावना कर कि मैं महावीर हूं । मैं राम जी का वास हूं । माया कभी मेरे निकट नहीं आ सकती ।

१०६२-मैं कौशल नरेश पुण्य कर्मा भगवान राम का दास, शत्रु की सेनाओं का संहार करने वाला पवन नन्दन हनुमान हूं । करोड़ों अधम रावण भी मेरी बराबरी नहीं कर सकते, क्योंकि मैं श्रीराम का दास हूँ, मेरे पराक्रम का कोई पारावार नहीं है ?

१०६३-मैं ईश्वर हूं, ये सब सृष्टि हमारी रची है ।

१०६४-मनुष्य अपने लक्ष्य को दृष्टि में रखकर सीधा तीर की तरह चला जाय । न दायें देखे न बायें । यदि इधर उधर दृष्टि जाती है तो समझो कि निष्ठा स्थिर नहीं हैं ।

१०६५-ज्ञानी की दृष्टि में तो सब उसका अपना आप ही है । तो क्या वह अपना ही विरोध करेगा ? और भक्त की दृष्टि में सर्वत्र उसका इष्ट देव ही है अतः उसे तो विरोध के लिये रञ्चक मात्र भी गुञ्जाइश नहीं है ।

१०६६—जो व्यक्ति इधर-उधर दृष्टिपात न करके अनन्य भाव से अपने साधन पथ पर ही चलता रहता है उसके सारे विघ्न स्वतः ही शान्त हो जाते हैं ।

१०६७—यदि हम चाहते हैं कि श्री भगवान हमारे अपराधों को क्षमा करें तो उसका सुगम साधन यही है कि हम अपने से सम्बन्ध रखने वाले लोगों के सभी अपराधों को क्षमा कर दें, कभी किसी के दोष या अपराधों पर दृष्टि न डालें क्योंकि वास्तव में सब रूपों में हमारा प्यारा इष्टदेव ही तो क्रीड़ा कर रहा है ।

१०६८—वास्तव में न कोई इन्द्रिय है, न इनके विषय हैं, न मन का फुरना है, सब आभास मात्र है ।

१०६९—जिस जगत् को सत्य जानकर हम विचरते थे वह है ही नहीं, फिर भय, शोक, चिन्ता कैसी ?

११००—निज आत्मा का चेतन प्रकाश, सूर्य, चन्द्र आदि प्रकाशों से अत्यन्त निराला है । वह ऐसा उजाला है कि जिससे समस्त स्थूल उजालीं को अनुभव किया जाता है इसलिये वेदों में इसे स्वयं प्रकाश साक्षी रूप से वर्णन किया गया है ।

११०१—पूर्ण पवित्रता का अर्थ है बाहरी प्रभावों के अधीन न होना । सांसारिक मनोहरता और घृणा से परे रहना रोभ और खीभ से अविचलित बने

रहना, किसी में भी भेद न देखना और आत्मानुभव द्वारा आकर्षणों और त्यागों से प्रभावित न होना ही वेदान्त उपनिषदों का रहस्य है ।

११०२-वास्तव में यह संसार अपने ही विचारों का प्रतिबिम्ब मात्र है ।

११०३-चाहे मृत्यु सन्मुख आ रही हो, भूख व्याकुल कर रही हो, चलते पैरों में छाले पड़ गये हों, किसी वृक्ष के नीचे पड़ा हो । और जीवन दूभर हो गया हो, बुद्धि विचार करने में शिथिल पड़ गई हो तो भी उसके अन्दर से यही निर्भय ध्वनि निकलने लगती है कि सोऽहम् सोऽहम् । मुझे न कोई भय है और न मृत्यु है, न मुझे भूख है न प्यास है, प्रकृति की कोई भी व्यथा मुझे नष्ट नहीं कर सकती । मैं वहीं हूँ, मैं वही हूँ ।

११०४-सम्पूर्ण संसार चित्रवत् दिखाकर साक्षी स्वयं प्रकाश का अनुभव कराता है, फिर वह मुमुक्षु शरीर को देखता हुआ भी नहीं देखता ।

११०५-जहाँ कहीं निर्बलता के विचार हों, वहाँ पांव न रखो । यदि उन्नति चाहते हो तो सभी प्रकार की दुर्बलता त्याग दो ।

११०६-हम ईश्वर में रहते हैं और उसी में ही

चलते फिरते है । मत सम्प्रदायों से हमारा क्या ? वे तो अपनी उन्नति चाहते हैं ।

११०७—आपने अपने जीवन में सहस्रों स्वप्न देखे होंगे, पर वे आपके अंश नहीं बन जाते । वैसे जाग्रत के आडम्बर आपकी आत्मा के आगे कोई महत्व नहीं रखते ।

११०८—नाटक में यदि हमारे पिता या हमारे कोई प्रिय मित्र राक्षस, भूत या सिंह बाघ के वेष में आते हैं तो उन्हें पहचान लेने पर हम जैसे उनसे न तो डरते हैं और न द्वेष करते हैं, ऐसे ही भगवान को जब समस्त रूपों से हम पहचान लेते हैं, तब किसी भी रूप से न हमें द्वेष रहता है, न भय और न घृणा ही ।

११०९—द्वैतदर्शी मोह, शोक और भय को ही सदा प्राप्त होता है और बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है । इससे मुख्य तत्व एक ही है और वह सद्गुरु है । जब मुख्य तत्व एक ही है तब द्रष्टा और दृश्य एक ही है ।

१११०—जैसे स्वप्न के दृश्य पदार्थ स्वप्न द्रष्टा पुरुष को स्वप्नावस्था में अपनी सत्ता से ही प्रतीत होते हैं, क्योंकि स्वप्न पदार्थों की वहां अपनी सत्ता कुछ नहीं है । वे स्वप्न द्रष्टा में ही कल्पित हैं । जब स्वप्नद्रष्टा जाग्रत में आ जाता है तब वे स्वप्न के

पदार्थ जाग्रत द्रष्टा को प्रतीत नहीं होते हैं । परन्तु द्रष्टा अपने आप को जानता है कि मैं वही हूँ जो स्वप्न का द्रष्टा था । इससे सिद्ध हुआ है कि द्रष्टा तो बिना स्वप्न के दृश्य के भी टहरा हुआ है । परन्तु स्वप्न का दृश्य बिना उसके द्रष्टा के नहीं ठहरता है । इससे स्वप्न का दृश्य स्वप्न द्रष्टा के अन्तर्गत ही है कल्पित होने से । तैसे ही जाग्रतावस्था का दृश्य अपने जाग्रतावस्था के द्रष्टा से भिन्न नहीं है । क्योंकि जाग्रतावस्था के द्रष्टा को वे दृश्य अपने में कल्पित अपनी सत्ता से ही प्रतीत होते हैं ।

११११-इससे सिद्ध हुआ कि दृश्य बिना द्रष्टा के नहीं रह सकता और द्रष्टा बिना दृश्य के भी रह सकता है । इससे दृश्य द्रष्टा के ही अन्तर्गत है । द्रष्टा दृश्य के अन्तर्गत नहीं है । और सच तो यों है कि एक ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अजर, अमर, अनन्त, अखंड, सतचित आनन्द स्वरूप तत्त्व में द्रष्टापना और दृश्य ये दोनों कल्पना भ्रम से प्रतीत होती है । जिस जिज्ञासु का यह भ्रम सद्गुरु की कृपा से दूर हो जाता है, उसका अपना निर्विशेष स्वरूप एक अद्वितीय ही शेष रहता है । यही तत्त्वमसि के लक्ष्यार्थ अद्वितीय सद्गुरु तत्त्व है ।

१११२—मैं ब्रह्मरूप हूँ तथा सब विश्व मेरे विषे कल्पित है ।

१११३—जो मनुष्य अनुकूल, प्रतिकूल, शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध इन पंच विषयों को सुनकर, छूकर, देखकर, खाकर और सूँघ करके न तो खुश होता है न खिन्न होता है, उसे जितेन्द्रिय समझना चाहिए ।

१११४—जिस आत्मज्ञानी पुरुष के प्रिय, अप्रिय, तथा सुख-दुःख और भूत-भविष्य एक ही समान है वह ज्ञानी निस्सन्देह बड़ा धनी है ।

१११५—शत्रु पर भी प्रेम रखो, भगवान को प्रसन्न करने का यह बड़ा अच्छा साधन है ।

१११६—दुःख में दुखी और सुखमें सुखी होने वाला लोहे के समान है । दुःख में सुखी रहने वाला सोनेके सदृश है । दुःख सुख में बराबर रहनेवाला रत्न के तुल्य है, और जो सुख दुःख की भावना से परे है वह सच्चा सम्राट् है ।

१११७—ईश्वर साक्षात्कार तब होगा, जब संसार की दृष्टि से प्रतीत होने वाले बड़े से बड़े वैरियों को भी क्षमा करने का स्वभाव बन जायेगा ।

१११८—मन को सदैव शान्त रखो, चाहे तुम्हारे चारों ओर कितने ही विषाद हों और कितने ही क्लेश के कारण मौजूद हों ।

१११६-छोटे बड़ेसबका शरीर नारायण का शरीर है ।

११२०-जब एक ही एक देखा गया अर्थात् सर्वत्र ऐक्य का अनुभव हुआ तो ऐसे ऐक्य देखने वाले को फिर शोक और मोह कहां ?

११२१-सूर्य उसी के हुक्म से जलता है, इन्द्र उसी का पानी भरता है, पवन उसी का दूत है, उसीके आगे दरिया रेत में माथा रगड़ते हैं ।

११२२-राजे-महाराजे, देवी, देवता, वेद, किताब जो कुछ भी है एक आत्मदर्शी का संकल्प मात्र है ।

११२३-यदि तुम अपने आत्मस्वरूप को परमात्मा समझो और अनुभव करो, तो आपके सब विचार और मनोरथ अवश्य सफल होंगे, उसी क्षण पूर्ण होंगे ।

११२४-चराचर सभी दृश्य केवल मन के कारण है । जब यह मन अमन हो जाता है, तब द्वैत का कोई अनुभव ही नहीं करता ।

११२५-करोड़ों विघ्न आने पर भी संत नीति को नहीं त्यागता ।

११२६-"मैं ज्योति हूँ" मैं साक्षी हूँ "मैं सत्य हूँ" यह सब संसार नाम का नाटक (अभिनय) मेरे अनुशासन में होता है तो यही साक्षात्कार है और

यही जीवन मुक्ति है ।

११२७—यह द्वैत दूर कर, तुझ से भिन्न कोई हिन्दू, तर्क, अन्य नहीं है मुफ्त में शोर मत कर क्योंकि यह सब तू ही आप है और सबको साध (उत्तम) देख कोई चोर नहीं है, क्योंकि तू ही उन सबके घट में बस रहा है ।

११२८—सब कुछ मैं आप ही आप हूँ, जिज्ञामु और इच्छित मेरे बिना कोई नहीं, मैंने जो कहा था कि मैं आशिक अर्थात् इस पर आसक्त वा प्रेमी हूँ यह मेरी भूल थी ।

११२९—पृथ्वी और आकाश का स्वामी मैं हूँ (अर्थात् पृथ्वी और आकाश सब मेरे अन्दर हैं) संसार तो मेरा ख्याल मात्र है ।

११३०—मैं फरिश्तों या देवताओं का पूजनीय हूँ अर्थात् देवतागण मेरी उपासना करते हैं ।

११३१—यह सारी दुनियां खतम हो गई, अर्थात् सारी दुनियां की होली हो गई । सारी दुनियां होली की अग्नि में जल कर राख हो गई । अद शेष कुछ भी न रहा ।

११३२—जिधर देखता हूँ जहां देखता हूँ मैं अपनी ही छाया (प्रकट, व्यक्त) देखता हूँ । यह जो कुछ

पैदा है सब मैं ही हूँ, मुझ से भिन्न कुछ भी नहीं है।
यह समस्त संसार भ्रम है।

११३३-ऐ दुनिया के बादशाहो ! और ऐ सातों
आसमानों के तारो ! मैं तुम सब पे राज्य करता हूँ।
मेरा राज्य सब से बड़ा है।

११३४-प्यारे ! जिसे आप जाग्रत समझ रहे
हो वह तो घोर सुषुप्ति है। क्योंकि यह सब विषय
के पदार्थ तो “क्लोरो फार्म” दवाई की तरह हैं, जिस
को सूँघने अर्थात् भोगने से सब रोम खड़े हो जाते हैं
और गला रुक जाता है।

११३५-मुझ में सब कुछ है, सब मुझ में है, मैं
ही सब कुछ हूँ। मेरे बिना कुछ नहीं है।

११३६-अपना अनुभव करने के लिये अपने से
भिन्न मत देखो। निज स्वरूप का बोध अभ्यास से
सर्वत्याग से होता है। अपने आप में सन्तुष्ट होने से
माना हुआ “मैं” मिट जाता है।

११३७-जो प्रतिकूलता को अपनाते हैं वे भगवान
के सम्मुख होते हैं। वे जिसे अपने से दूर रखना चाहते
हैं उसे अनुकूल परिस्थिति देते हैं। जिसे सभी वस्तुयें
अनुकूल और पवित्र, सब घटनायें लाभकारी, सब
दिन शुभ सभी मनुष्य देवता रूप दिखाई दें वही तत्त्व-

दर्शों संत हैं ।

११३८—व्यष्टि और समाष्टि सब मैं ही हूं और दोनों से अलग भी मैं ही हूं ।

११३९—बुद्धिमान पुरुष संसार को चिन्ता नहीं करते । अपनी मुक्ति की करते हैं । मुक्ति को चिन्ता ही त्यागी, दानी, सेवा परायण बनाती है ।

११४०—आप ही प्रत्येक वस्तु हैं भूत प्रेत, देवता तथा देवदूत, पापी तथा पुण्यात्मा सब आप ही तो हैं । इस बात को जान लीजिये, इसे अनुभव कीजिये और 'मुक्त हैं' यही त्याग का मार्ग है ।

११४१—सच तो यह कि परिस्थिति जितनी कठिन होती है, वातावरण जितना भी पीड़ा कर होता है उन परिस्थितियों से निकलने वाले उतने ही बलिष्ठ होते हैं । अतः इन समस्त बाहरी कष्टों और चिन्ताओं का स्वागत करो । इन परिस्थितियों में भी वेदान्त को आचरण में लाओ । और जब आप वेदान्त का जीवन व्यतीत करेंगे, तब आप देखेंगे कि समस्त वातावरण और परिस्थितियां आप के वश में आ रही हैं, वे आप के लिए उपयोगी हो जायंगी ।

११४२—हर एक पदार्थ से अपने मोह को हटा लो और एक चोज पर, एक तथ्य पर, एक सत्य पर,

अपने ईश्वरत्व पर सारा ध्यान केन्द्रित करो । तुरन्त ही तुम्हें आत्म साक्षात्कार होगा ।

११४३—चित्त समता विचार से शीघ्र ही वश में होता है । हठ से शीघ्र नहीं, किन्तु धीरे धीरे साधा जाता है ।

११४४—ऊपर का वस्त्र भी ओढ़ने को जिनके न होवे, बिना बिछौने के सोने वाला, भुजा रूप तकिये वाला ऐसा जो शांत पुरुष है, उसको देवता-ब्राह्मण जानते हैं ।

११४५—जो कुछ मिला उससे शरीर को ढकने वाला, जो कुछ मिले उसे खा लेने वाला, जहां कहीं सो जाने वाला ऐसा जो हो उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं ।

११४६—कन्था, कौपीन, वस्त्रवाला, दंडधारी, ध्यान परायण पुरुष जो अकेला रमण करता है उसको देवता ब्राह्मण जानते हैं ।

११४७—उस एक ही आत्मा को जानो, अन्य वाणी को छोड़ो । धीरे ब्राह्मण उस परमात्मा का ही साक्षात्कार करके आत्मज्ञान निष्ठा को धारण करे, बहुत शब्दों का चिन्तन, भाषण न करे । क्योंकि वह मन वाणी को परिश्रम देने वाला है ।

११४८—जो पुरुष जन समूह से इस प्रकार भय-भीत होता है, मानो सर्प से, और नर्क की नाई सम्मान से डरता है तथा जो स्त्रियों से ऐसे डरता है मानो मृतक शरीर से उस पुरुष को देवतागण ब्राह्मण जानते हैं ।

११४९—अपरोक्ष आत्मज्ञान से मिथ्या निश्चित किया हुआ जगत भास रहा है, वह वस्तुतः नहीं है (एक आत्मा ही है) इस प्रकार जो जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है ।

११५०—जिस प्रकार यह स्वप्न प्रपञ्च मुझमें माया से विस्तृत है, इसी प्रकार जाग्रत प्रपञ्च भी मुझमें माया से विस्तृत है । ऐसा जो जानता है वह अति वर्णाश्रमी होता है ।

११५१—शब्द, स्पर्श, रूप, रसादिक जगत माया का कार्य है, यह तो वस्तुतः है ही नहीं, ऐसा निश्चय तत्त्वज्ञान है । उस तत्त्वज्ञान के उत्पन्न न होने पर रूप, रसादिक विषयों के सद्भाव रहने से विषय गोचर चित्त की वृत्तियों का निवारण नहीं हो सकता है ।

११५२—तू आनन्द कन्द होता हुआ भी दुःख का स्वप्न देख रहा है यही तेरी अज्ञानता है ।

११५३—जिस प्रकार स्वदेह के अवयवों पर क्रोध नहीं होता है, इसी प्रकार रिपु, बन्धु और स्वदेह में

बराबर एक आत्मा देखने वाले विवेकी को क्रोध कैसे आ सकता है ।

११५४—आदि से ही सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई, दृश्य का सदा से ही अभाव है । यह जगत और परिच्छिन्न अहंकार भी नहीं है । इस को परम ज्ञान का अभ्यास कहते हैं ।

११५५—ज्ञाता और ज्ञेय वस्तु के अत्यन्त अभाव निश्चय अभाव सम्पत्ति है । सो यह मनोनाश का उपाय है ।

११५६—दृश्य असम्भव है, इस बोध से राग-द्वेषादिक के निवृत्त होने पर जो यह नवीन आत्मरति उदय हो सो ब्रह्माभ्यास कहलाती है । सो यह वासना क्षय का अभ्यास है ।

११५७—मैंने तो शरीर को भगवान के अर्पण कर दिया है । अब इसके भूख-प्यास, सुख-दुःख आदि धर्मों से मेरा क्या ? अर्पण की हुई वस्तु में आसक्त होना महापाप है ।

११५८—एक मन तो क्या, असंख्य मन, इन्द्रिय अलग अलग प्रकार की क्रियायें कर रहे हैं तो भी हमारे सतचित्त आनन्द स्वरूप की समाधि कभी नहीं टूटती । उसमें कोई भी कल्पना प्रवेश नहीं कर

सकती । तन, मन, धन प्रकृति का है । प्रकृति ही कर्त्री भोक्त्री है ।

११५६-द्रष्टा स्वरूप ब्रह्म में यह दृश्य स्वरूप जगत संकल्प मात्र से सिद्ध हो रहा है और संकल्प के क्षीण होने से दृश्य दिखाई नहीं देता । आदि-अन्त से रहित द्रष्टा स्वरूप ही स्वयं जहां तहां विराजमान है, उसे दृश्यमान संसारी पदार्थों के संयोग-वियोग कर कोई हर्ष-शोक, हानि-लाभ, तपायमान नहीं करता । तब कहा है—

द्रष्टा दृश्य न होता है, दृश्य न द्रष्टा मीत ।

यह निश्चय पक्का धार के, शोक न करना चित्त ॥

जिस को यह निश्चय हुआ कि द्रष्टा जो साक्षी है वह कभी भी दृश्य नहीं हो सकता और न दृश्य ही कभी द्रष्टा हो सकता है । वह उत्तम अधिकारी सदा द्रष्टा स्वरूप सच्चिदानन्द में स्थित हो कर दृश्य स्वरूप संसार को तर जाता है ।

११६०—जो इस प्रकार जानता है कि मैं ब्रह्म हूं, वह वही स्वरूप हो जाता है ।

११६१—जब मैं मन बुद्धि नहीं हूं, तब इनके उत्तरदायित्व, सुख-दुःख, लाभ-अलाभ को अपना मान कर मैं व्यर्थ क्यों रो मरूं ।

११६२—ईश्वर सृष्टि में न कुछ बुरा है न कुछ भला है । सब सत्य के प्रकाश में स्वाभाविक शक्ति विलास ही है । असम दर्पण में जैसे मुख ज्यों का त्यों दृष्टि नहीं पड़ता, इसी प्रकार अशुद्ध मन में ईश्वर सृष्टि ठीक-ठीक नहीं दृष्ट पड़ती । बल्कि भली या बुरी वासना भेद से दृष्ट पड़ती है ।

११६३—मन अपनी शक्ति से जैसे स्वप्न में कुछ न होते हुए भी विश्व उत्पन्न कर देता है, इसी प्रकार जाग्रत में जगत् उत्पन्न करने वाला मन ही है । उसी से सब प्रपंच का विकास समझो । यदि मन से जगत् की उत्पत्ति न होती तो सृष्टि में भी जगत् रहना चाहिये था । सृष्टि में जगत् नहीं रहता ।

११६४—जिस प्रकार अपने ही रचित स्वप्न जगत् को एक अज्ञानी भय प्रद दुःखदाई देखता है । उसी प्रकार वह ईश्वर रचित जगत् को भी अपने अज्ञान के कारण ही दुःख, अन्धेर व अन्याय से भरा हुआ देखता है । ज्ञान होने पर वह न स्वप्न जगत् को और न इस जाग्रत (मन) जनित जगत् को भयप्रद या भला बुरा पाता है । जब वह (जीव) स्वरूप से सच्चिदानन्द व पूर्ण तृप्त है और यह संसार प्रतीति मात्र होते हुए भी सदउद्देश्य जनित है, फिर भले बुरे

का प्रश्न अज्ञान में ही उत्पन्न हो सकता है ।

११६५—जो कुछ जगत देखने में आता है वह सूक्ष्म शरीर की छाया मात्र है । जैसे जब दर्पण में मुख देखते हैं, तब अपना मुख अपने पास होते हुए भी बाहर दर्पण में दिखता है । इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर में संसार दिखता है बाहर दिखने वाला संसार उसी का आभास है । सब संसार हमारी वासना भावना का ही दृश्य है, परन्तु बाहर की दृष्टि होने से बाहर दिखाता है ।

११६६—मुझ से बुदबुदा रूपी शरीर लाखों मर मिटे और उत्पन्न हो गए पर मैं नित्य और अद्वैत रूपी समुद्र ही हूँ और मुझमें नानात्व रूपी लहरें केवल धोखा है ।

११६७—सुख-दुख, लाभ-हानि, मैं-तू, हर्ष-शोकादि जितने द्वन्द्व हैं वे सब द्वैत में होते हैं, जहां द्वैत नहीं है वहां सुख-दुःखादि भी नहीं है । कारण शरीर में द्वैत की प्रतीति नहीं होती, इसलिए सुख-दुःख का अनुभव भी नहीं होता । स्थूल और सूक्ष्म शरीर में मैं और तू आदि का भेद होता है वहां दुःख होता है । कारण शरीर में तू का भेद न होने से वह दुःख रहित है ।

११६८—अब तो मैं जीवरूप में अन्न को खा

रहा हूँ । प्रलय होने पर तो सबको खाने वाली अग्नि आदि को भी मैं खा डालता हूँ । यों जब प्रलयकाल में इस सकल जगत का मुझ में ही होम हो जायगा तब जो शेष रहेगा वही तत्व मैं अब भी हूँ । फिर क्यों मैं इस प्रतिभासिक जगत में फंसता फिरूँ ? तथा क्यों अनन्त दुःखों को निमन्त्रण दे लूँ ? बस यही मनुष्य के उद्धार की संक्षिप्त प्रक्रिया है ।

११६६-अपने आप को न जानो तो जगत आ जाता है । अपने आप को पहचान लो तो जगत नहीं रहता । जगत का अस्तित्व आत्मा को न जानने तक ही है यों जगत का उपादान आत्मा ही है ।

११७०-ज्ञान होने पर ही मालूम होता है कि ओ हो ! आत्मा को ढकने वाली तो कोई वस्तु ही यहाँ नहीं थी ।

११७१-जिस को कोई नहीं जानता है कि वह सत है अथवा असत है, अपठित है अथवा बहु पठित है, सदाचारी है अथवा दुराचारी है, वह निश्चय कर के यति है ।

११७२-जगत का सार देह, देह का सार इन्द्रियां उनका सार प्राण और प्राणों का सार मन, इस का सार बुद्धि, बुद्धि का सार अहंकार, इसका सार जीव

है, जीव का सार चिदावली, वह चिदावली ईश्वर है । चिदावली का सार चैतन्य है अर्थात् आदि जगत् से लेकर चिदावली तक नाम रूप सब फुरने मात्र है । एक अफुर ब्रह्म सब का अधिष्ठान (असली रूप) है ।

११७३—जैसे स्वप्न की चेष्टायें निद्राकाल में सत्य भासती हैं, पर जागने से उस का अभाव हो जाता है । तैसे यह जगत् अज्ञान से भासता है । और बोध होने पर सब की एकता होती है । वायु के वेग से समुद्र में अनेक तरंग भासते हैं, वास्तव में सबका अत्यन्ताभाव है । तैसे ब्रह्म ज्ञान से जगत् असत् होता है ।

११७४—जैसे स्वप्न में स्वरूप के अज्ञान और वासना के वेग से मनुष्य सुख-दुःखों को भोगता है जब नींद से जागे तब अपना निर्विकार रूप भासे, तैसे वास्तव स्वरूप को स्मरण करके निर्विकार ब्रह्म में विश्राम होता है ।

११७५—हे रामजी ! अनहुआ संसार भ्रान्ति कर सत्य भासता है । जो पदार्थ दोनों कारणों से बनता है वह कुछ भी माना जाय पर उपादान व निमित्त कारणों के बिना जो भासता है वह असत्य है । आत्मा अद्वैत और अच्युत है उसमें दोनों प्रकार की

कारणता नहीं हो सकती । जैसे महाराज स्वप्न में अपने को भिखारी देखे वह केवल भ्रम है । तैसे ही इस जगत् को भ्रान्ति रूप जानो ।

११७६—हे राम जी ! रज्जु में सर्प की भ्रान्ति को कल्पित रूप लिखा है । जैसे कल्पित सर्प रस्सी की हानि-लाभ नहीं कर सकता, तैसे ही कल्पित (मिथ्या) जगत् के व्यवहार व आकार अधिष्ठान ब्रह्म की हानि व लाभ नहीं करते । मन में फुरने से भय, शोक, चिन्ता भासता है । जब मन अफूर होता है सुषुप्ति में तो नहीं भासता । अधिक संसार भासता भी सत्य नहीं । इन्द्रजाली के रचे हुए पदार्थ प्रत्यक्ष भासते हैं पर वह यथार्थ में मिथ्या हैं । इसलिए उनके आकार व व्यवहार सब मिथ्या हैं तैसे ही इस सृष्टि को मिथ्या जानो ।

११७७—सब भूत, भौतिक प्राणियों का आत्मा एक है । जैसे सूर्य का प्रकाश सर्वत्र एक और आकाश सबमें एक पूर्ण है । तैसे ही ब्रह्मात्मा सब देह धारियों में अद्वैत पूर्ण है । जो विद्वान सब भूत प्राणियों में आत्मरूप भगवान को पूर्ण देखता है और भूत भौतिक सब जगत् को ब्रह्मात्मा में कल्पित जानता है वह भक्तों में शिरोमणि है ।

११७८—ब्रह्मात्मा से भिन्न जो स्थावर, जंगम (जड़-चेतन) रूप संसार भ्रम दशा में भासता है सबको बाध (भूठा) जानकर के स्वरूप में स्थित हो अर्थात् शुद्ध आत्मा में सब जगत् वास्तव में भूठा है ।

११७९—जैसे सब भूषणों में स्वर्ण पूर्ण है (सत्य है) तैसे ही सब दृश्य ब्रह्मात्मा में कल्पित हैं, वास्तव से नहीं ।

११८०—भ्रान्ति से भेद भासता है । श्रुति का कथन है कि दृश्यमान जगत् को मिथ्या जानने पर एक आत्मा निश्चय होता है । अर्थात् जीव ईश्वर और जगत् में भेद अतीत होते हुए भी वास्तव में ब्रह्म अद्वैत स्वयं प्रकाश है । अनेक प्रकार के भेद माया-कृत हैं ।

११८१—जैसे सिनेमा के वस्त्र पर अश्व, हस्ती, गऊ और मनुष्य आदि के आकार व व्यवहारों सहित भासते हैं । बुद्धिमान उन सबको कल्पित भूठे जानते हैं ।

११८२—स्वप्न में भासते अनेक आकारों व व्यवहारों का प्रकाशक मैं एक हूँ । स्वप्नसृष्टि के उदय, अस्त आदि सब विकारों के होने में साक्षी अच्युत (निर्विकार) मैं हूँ । स्वप्न के चिदाभास सुख-दुःख के भोगता भासते हैं, मैं चैतन्य सबका ज्ञाता मुक्त हूँ । स्वप्न राग द्वेष

सहित प्रतीत होते हुए भी मैं साक्षी स्वयं प्रकाश नित्य शुद्ध स्वरूप ब्रह्मात्मा हूं ।

११८३—जैसे समुद्र में तरंग होते हैं, परन्तु उनकी उत्पत्ति व लय से रहित समुद्र अद्वैत है तैसे मुझ ब्रह्म में जगत की उत्पत्ति प्रलय आदि के सब व्यवहारों के प्रतीत होते हुए भी मैं नाश रहित केवल चैतन्यघन नित्य विद्यमान हूं ।

११८४—भाव-अभाव व जड़-चेतन और नाम रूप आदि सब जगत को मिथ्या जानने पर ब्रह्मात्मा निश्चय होता है ।

११८५—जो पदार्थ चक्षु से जाने जाते हैं और स्रोत कर सुने जाते हैं उन सब पदार्थों को मिथ्या निश्चय करके मुमुक्षु एक ब्रह्मात्मा की भावना करे तभी अधिकारी कृतकृत्य भाव को प्राप्त होता है ।

११८६—उपासना आनन्द को तंग दिलवाला कभी नहीं पा सकता, जिसका दिल बादशाह नहीं, वह क्या जाने भक्ति रस को । और बादशाह वह है जिसका अपने दिल के भीतर से एक लंगोटी के साथ भी दावा न हो ।

११८७—जब तक नाम रूप समस्त संसार और विराट रूप समग्र जगत सम्यक प्रकार से दान न कर

दिया जाय और यज्ञ बलि में आहुति न कर दिया जाय तब तक अमृत चखने का मुंह कहां ? “सर्वं खल्विदं ब्रह्म” रूपी ज्ञान की अग्नि में जगत के पदार्थ और उनको कामना का विषादकार (पूर्णनाश) हो जाय तो सम्राज्य (स्वराज्य) की प्राप्ति में देर ही क्या है ?

११८८—जब तक पदार्थ में सत्ता दृष्टि है, या उसमें चित्त लगाए हुए हो, सिर पटक मारो वह पदार्थ कभी नहीं मिलेगा या सुखदायी होगा । जब वस्तुतः अथवा स्वाभाविक उस पदार्थ से दिल उठता अर्थात् आत्मारूपी अग्निकुण्ड में वह चीज पड़ती है मन में यज्ञ हो जाता है तो स्वयं इष्ट पदार्थ हाजिर हो जाता है । हिमालय पवन की ठोकर से गेंद की तरह शायद कभी उछलने भी लग पड़े, परन्तु यह कानून बाल के बराबर कभी इतर नहीं हो सकता है ।

११८९—“मैं ही हूं” जगत है ही नहीं । अगर जगत् की चीजें हैं तो केवल मेरा कटाक्ष मात्र है ।

११९०—ईश्वर जिस पर खुश होता है उसे नदी की सी दानशीलता, सूर्य की सी उदारता और पृथ्वी की सी सहनशीलता प्रदान करता है ।

११९१—प्रभुके मार्ग में प्राण तक देने की तैयारी न हो तो उसके प्रति प्रेम है ऐसा मानना ही नहीं चाहिए ।

११६२—जब आप ईर्ष्या और द्वेष, छिद्रान्वेषण और दोषारोपण, घृणा और निन्दा के विचार अपने से बाहर किसी के प्रति भेजते हैं तो आप वैसे ही विचार अपनी ओर बुलाते हैं । जब कभी आप अपने भाई की आंख में तिनका खोजते हैं, तभी आप अपनी आंख में ताड़ खड़ा कर लेते हैं ।

११६३—कोई सांसारिक लहरें मेरे निश्चल चित्त को आन्दोलित नहीं कर सकतीं, मुझे शत्रु से भय नहीं, मित्र से घृणा नहीं, मुझे मौत का डर नहीं, मुझे नाश का भय नहीं । भय मेरे भाग गये, शंकायें मेरी कट गईं, मेरी विजय प्राप्ति का दिन आ पहुँचा ।

११६४—शरीर अनेक हैं, आत्मा एक है और वह परमात्मा मेरे सिवा और कोई नहीं । मैं ही कर्त्ता, साक्षी और न्यायाधीश हूँ । मैं ही कर्कश, आलोचक और मैं ही प्रशंसक हूँ । मेरे लिये प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र और स्वच्छन्द है । बन्धन परिच्छिन्नता और दोष मेरी दृष्टि में आते ही नहीं । मुक्त, परम मुक्त हूँ और दूसरे लोग भी स्वतन्त्र हैं । ईश्वर मैं ही हूँ तुम भी वही हो, वह भी वही है ।

११६५—जो कुछ प्रपञ्च तुमको भासता है सो सब अविद्या रूप है, कहीं अविद्या जलरूप हुई है, कहीं

पहाड़, कहीं नाग, कहीं देवता, कहीं दैत्य, कहीं पृथ्वी, कहीं चन्द्रमा, कहीं सूर्य, कहीं तारे, कहीं तम, कहीं प्रकाश, कहीं तेज, कहीं पाप, कहीं पुण्य, कहीं स्थावर, कहीं मूढ़ रूप, कहीं अज्ञान से दीन और कहीं ज्ञान से आप ही क्षीण हो जातो है । कहीं तप दान आदिक से क्षीण होती है, कहीं पापादिक से वृद्धि होती है, कहीं सूर्य रूप होकर प्रकाशवतो है, कहीं स्थान रूप होतो है, कहीं नरक में लीन है, कहीं स्वर्ग निवासी है, कहीं देवता होती है, कहीं कृमि होती है, कहीं विष्णुरूप होकर स्थित हुई है, कहीं ब्रह्मा होकर स्थित है, कहीं रुद्र है, कहीं अग्निरूप है, कहीं पृथ्वी रूप हुई है । और कहीं आकाश व कहीं भूत, भविष्य और वर्तमान हुई है । हे राम जी ! जो कुछ देखने में आता है वह सब महिमा इसी की है । ईश्वर से आदि तृण पर्यन्त सब अविद्या रूप है । जो इस दृश्य जाल से अतीत है, उसको आत्मलाभ जानो ।

११६६—जैसे बालक अपनी परछाई में वैताल कल्पकर आप ही भय पाता है । तैसे ही जीव अपने संकल्प से आप ही भयभीत होता है और संकट पाता है ।

११६७—परमार्थ से द्वैत कुछ है ही नहीं, सब

संकल्प रचना है ।

११६८—जैसे मोर के अंडे में नाना रंग भासते हैं तो भी एक रूप है, तैसे ही इस जगत् में भिन्न २ पदार्थ भासते हैं तो भी एक ब्रह्म सत्ता है, द्वैत कुछ नहीं । जिनको अज्ञान रूपी दुष्टदृष्टि है उनको अन उपजा ही जगत् नानात्व भासता है और जो अज्ञान दृष्टि से रहित हैं उनको एक ही ब्रह्म भासता है और कुछ नहीं भासता ।

११६९—ऐ संसारी लोगो । मत डरो, भय को छोड़ दो, क्योंकि यह मधुर मुख वास्तव में मिसरी रूप हैं, परन्तु भवें व्यर्थ चढ़ा लेता है । (अर्थात् ऊपर से कोप में आ जाता है और वह भी व्यर्थ ।)

१२००—मैं निरिन्द्रिय हूँ । इसलिए रूप, रस, गंध स्पर्श, शब्दादि विषयों के साथ मेरा सम्बन्ध भी नहीं है । अर्थात् मैं विकार रहित सत् चित् आनन्द रूप और अखंड शुद्ध चैतन्य हूँ ।

११०१—जिस प्रकार कार्य रूप समस्त घट, शराव आदि पदार्थ कारण रूप मृत्तिका से भिन्न नहीं है किन्तु केवल भिन्न प्रतीति होती है । उसी तरह यह कार्यरूप समस्त जगत् उपादान रूप आत्मा ही है । आत्मा से अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है इसलिए विवेकी पुरुष

समस्त जगत् को अपनी आत्मा स्वरूप ही देखता है । तात्पर्य यह हुआ जगत् आत्मा से भिन्न प्रतीत तो होता है परन्तु वास्तव में भिन्न नहीं जैसे घट, शराव मृत्तिका रूप ही है वैसे समस्त जगत् आत्मरूप ही है ।

१२०२—मैं एक अखण्ड आत्मा अपने से भिन्न किसी को कैसे देखूं । देखूं भी तो मेरी अखण्डता कैसे सुरक्षित रहे । जब सम्पूर्ण विषय ज्ञान का अभाव हो जाता है । जब अज्ञान में ही बुद्धि का विलय हो जाता है तो इसी को 'सुषुप्ति अवस्था' कहते हैं ।

१२०३—इस दृश्य जगत् को जब हम देखते हैं तभी इसकी सिद्धि होती है । यदि इस दृश्य को कोई न देखे तो इसकी सिद्धि कैसे हो ? जीवात्मा कहाने वाले हम लोग यदि किसी ऐसी गुफा में जा बैठें कि जहां हमें अन्य कोई भी देख न सकता हो तो भी वहां हम स्वतः सिद्ध बने रहते हैं । वहां हमारी सत्ता के ज्ञान के लिए किसी की सहायता अपेक्षित नहीं होती । उस समय किसी प्रकार की भी बाह्य सहायता के विना वहां की मौन मुद्रा को भंग कर डालने वाला 'हूं' ऐसा शब्द हमारे मुंह से निकल ही पड़ता है । जो हमारी स्वतः सिद्धता को बड़ी दृढ़ता से सिद्ध कर देता है ।

१२०४—इस दृश्य जगत् को सिद्ध होने के लिये क्रमशः (१) लौकिक सूर्यादि ज्योतियों (२) चक्षु आदि इन्द्रियों (३) मन आदि अन्तःकरणों (४) तथा सबके पश्चात् ज्ञाता आत्मा को परमावश्यकता होती है, यों यह दृश्य जगत् स्पष्ट ही दूसरों के आश्रय से सिद्ध हुआ करता है यदि किसी युक्ति से इस दृश्य जगत् को चारों प्रकाशन न मिले तो बताओ कि इसको सिद्धि कैसे हो ?

१२०५—संसार का नाटक मैं देख रहा हूं । एक स्थान पर बैठ कर भी देखा, अब यात्रा कर के भी देख रहा हूं । असंख्य जन-समूह और उनके नेता, दोनों एक ही प्रभाव में खींचते चले जा रहे हैं । यह देखकर ईश्वर की ही लीला का चिन्तन करे, दूसरा कुछ चिन्तन न करे । ऐसा लगता है ।

१२०६—मैं आत्मा का रूप हूं, मुझमें जन्म कहाँ ? और मरण कहाँ ? इनका चिन्तन भी हमारा कर्तव्य नहीं, इसी निश्चय का नाम मोक्ष है ।

१२०७—मैं सत्चित् आनन्द ब्रह्मरूप हूं, मुझ में सांसारिक दुःख का किंचित मात्र लेश भी नहीं है ।

१२०८—एक भी ब्रह्म है, द्वै भी ब्रह्म है, मोह भी ब्रह्म है, अमोह भी ब्रह्म है, सम भी ब्रह्म है, असम भी

ब्रह्म है, दोष भी ब्रह्म है, गुण भी ब्रह्म है, दम भी ब्रह्म है, विभु भी ब्रह्म है, प्रभु भी ब्रह्म है, लोक भी ब्रह्म है, गुरु भी ब्रह्म और शिष्य भी ब्रह्म हो है ।
वस्तुतः निश्चय करके यह समस्त जगत् ही ब्रह्ममय है ।

१२०९—सुख-दुखादि पाँच इन्द्रियों के विषय हैं ।

१२१०—हम सब को फिक्र करने वाला ईश्वर बैठा है । तब यह बोझा व्यर्थ ही हम क्यों ढोते फिरें ? हमें तो अपने हिस्से आया हुआ काम करते रहना है ।

१२११—स्थावर जंगम जगत् के हम पिता हैं । हम उसके पूज्य और श्रेष्ठ गुरु हैं ।

१२१२—जो जिससे भय करता है उसी को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है, चाहे ईश्वर हो, गुरु हो या कोई साँसारिक सम्बन्धी हो अथवा देवता हो ।

१२१३—मेरे हुए शरीर को जैसे इच्छा या द्वेष नहीं होता, सुख-दुःख नहीं होता, वैसे जो जीवित रहते हुए भी मृत समान जड़ भरत की भांति देहातीत रह सकता है वह संसार विजयी हुआ है और वह वास्तविक सुख को जानता है ।

१२१४—गुणातीत के लक्षण—जो मनुष्य अपने पर जो आ पड़े, फिर भले ही प्रकाश हो या प्रवृत्ति हो या मोह हो, ज्ञान हो, गड़बड़ हो या अज्ञान हो, उसका

अतिशय दुःख या सुख न माने या इच्छा न करे, जो गुणों के बारे में तटस्थ रहकर विचलित नहीं होता, गुण अपने गुणानुसार बरतते हैं, यह समझ कर जो स्थिर रहता है, जो सुख-दुःख को सग मानता है, जिसे लोहा पत्थर या सोना समान है, जिसे प्रिय-अप्रिय की बात नहीं है, जिस पर अपनी स्तुति या निन्दा कोई प्रभाव नहीं डाल सकती, जिसे मान-अपमान समान है, जो शत्रु-मित्र के प्रति सम भाव रखता है, जिसने सब आरम्भों का त्याग किया है वह गुणातीत कहलाता है ।

१२१५-भक्त के लक्षण—भक्त किसी से द्वेष न करे, किसी के प्रति वैरभाव न रखे, जीवमात्र से मैत्री रखे, जीवमात्र के प्रति करुणा का अभ्यास करे, ऐसा करने के लिये ममता छोड़े, अपना मिटाकर शून्यवत हो जाय, दुःख-सुख को समान माने कोई दोष करे तो क्षमा करे (यह जानकर कि स्वयं अपने दोषों के लिए संसार क्षमा का भूखा है) संतोषी रहे, अपने शुभ निश्चयों से कभी विचलित न रहे । मद, बुद्धि सहित सर्वस्व अर्पण करे । उससे लोगों को उद्वेग नहीं होनी चाहिये, न लोग उससे डरें, वह स्वयं लोगों से न दुःख माने न डरे, मेरा भक्त हर्ष, शोक, भय

आदि से मुक्त होता है, उसे किसी प्रकार की इच्छा नहीं होती, वह पवित्र होता है, कुशल होता है, बड़े बड़े आरम्भों को त्यागते हुए होता है, निश्चय में दृढ़ होते हुए भी शुभ और अशुभ परिणाम दोनों का वह त्याग करता है अर्थात् उसके बारे में निश्चित रहता है । उसके लिए शत्रु कौन और मित्र कौन ? उसे मान क्या ? और अपमान क्या ? वह तो मौन धारण करके जो मिल जाय उससे संतोष रखकर एकाकी भाँति विचरता हुआ सब स्थितियों में स्थिर होकर रहता है । इस भाँति श्रद्धालु होकर चलने वाला मेरा भक्त है ।

१२१६—निश्चय ही सम्पूर्ण दृश्य जगत् तुझ से अभिन्न है । इसीलिये मत डर, उपनिषदों में स्थित अनुभव स्वरूप भूमा को आत्मा जान ।

१२१७—निन्दा-स्तुति और मान-अपमान से तुझ समदर्शी को क्या करना है कुछ नहीं, लोक अपनी इच्छानुसार काम किया करे, तेरी क्या हानि है, कुछ नहीं ।

१२१८—इस सम्पूर्ण जगत् को जल के बुलबुले के समान जानकर तू आत्मा में टिक, तुझ अद्वैत देखने वालों को शोक कहां ? मोह कहां ।

१२१९—नेत्र खोलने और बंद करने से राम को साधारणतया यह भान होता है कि “सूर्य चन्द्र तारा-गण इत्यादि सब पदार्थ मैं घेरे हुए हूं। मैं उनको जीवन शक्ति और उद्योग प्रदान करता हूं। मैं उनका आधार और आश्रय हूं। मैं परम आत्मा हूँ।” एक अवस्था यह है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने पर आप देखेंगे कि सम्पूर्ण घृणा, द्वेष वा भय दूर भाग जाता है।

१२२०—जब आप कहते हैं कि अमुक मनुष्य राग वा प्रेम कर रहा है तब यथार्थ में वह सारे संसार से द्वेष कर रहा है। जब आप किसी विशेष वस्तु से स्नेह करते हैं, तब अपने को अखिल विश्व से आप अलग कर लेते हैं।

१२२१—मैं सर्वरूप हूं। इस तरह सब स्नेहों वा आसक्तियों को धीरे-२ छोड़ने को कह कर वेदान्त तुम्हें समस्त मानव जाति का हितैषी बनाना चाहता है।

१२२२—एक मनुष्य तुम्हें सज्जन कहता है वह तुम्हें परिछिन्न करता है। दूसरा मनुष्य तुम्हें दुर्जन कहता है वह भी तुम्हें परिछिन्न करता है। एक दूसरा तुम्हारी खुशामद करता है या स्तुति करके तुम्हें फुला देता है वह भी तुम्हें सोमावद्ध करता है। दूसरा

तुम्हारी निन्दा करता है वह भी तुम्हें परिमित करता है और बांधता है । भाग्यशाली है वह पुरुष जो इन प्रत्येक बन्धन के विरुद्ध खड़ा होकर अपने दैवत्व अपने ईश्वरत्व का निरूपण करता है । जो मनुष्य अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव कर लेता है । जो मनुष्य सारे संसार के सामने तथा अपने इर्द-गिर्द अन्य सब लोगों के सामने निडर खड़ा हो कर अपने ईश्वरत्व का निरूपण कर सकता है और ईश्वर से अपनी अभेदता पहचान सकता है । जिस क्षण तुम अपने ईश्वरत्व को जतलाने के लिए खड़े होने को तैयार हो जाते हो, उसी क्षण सारा संसार तुम्हें ईश्वर मानने को बाधित होता है । सारी सृष्टि तुम्हें परमात्मा अवश्य मानेगी ।

१२२३—ये स्थूल भौतिक पदार्थ, ये भौतिक-तत्व इन्द्रियों के भ्रान्ति के सिवाय और कुछ नहीं है । इन नाम मात्र तत्वों और रूपों पर जो भरोसा करता है उसे कभी सफलता नहीं होती । रूपों और परिच्छिन्न भावों पर निर्भर रहना कभी सफलता न लायेगा । सूक्ष्म सिद्धान्त अर्थात् सत्य पर निर्भर रहना सफलता की कुंजी है, उसे ग्रहण करो, अनुभव करो, भान वा निदिध्यासन करो और उसका व्यवहार करो । फिर ये नाम, ये तत्व, ये रूप और रेखा तुम्हें खोजते फिरेंगे ।

१२२४—सारी दुनियां एक बड़े ठोस पदार्थ के समान है और तुम्हारा शरीर इस दुनिया रुपी मेज का एक कोना या बिन्दु है । यदि आप इस अकेले बिन्दु को पकड़ते, यदि इसे आप उठाकर तान दें, यदि आप इसे ईश्वर कहें, यदि आप इसे परमात्मा समझें यदि यह अकेला बिन्दु ईश्वर में मानों समा जाय तो सारी दुनियां खींच जायगी, सारी दुनियां सरक जायगी, क्योंकि सारा संसार मेज की तरह ठोस पदार्थ है अपने व्यक्तित्व को तान दीजिये और आप सारी दुनियां को तान दीजिये । संगठनों में, या बड़ी बड़ी संस्थाओं में, महान मठ, मन्दिरों और उनके प्रचारक दलों में भरोसा करना बड़ी ही मूर्खता है और भयंकर भूल है । निस्सन्देह यह भयंकर भूल है ।

१२२५—शंकराचार्य ने कोई जत्था बनाया था ? नहीं, वेचारा अकेला ही रहा प्रत्येक प्राणी को अवश्य अकेले रहना चाहिये । अकेले खड़ा होना चाहिये । हर एक को अपने भीतर परमेश्वर को बोध और साक्षात्कार करना चाहिये ।

१२२६—बाहरी मदद पर कभी भरोसा मत करो । केवल अपने पर वा अपने अन्तरात्मा पर भरोसा यही आवश्यकता है और कुछ नहीं ।

१२२७—जो प्रतिकूल परिस्थिति में भी सदा निर्भय निश्चित रहता है, वह पुरुषार्थी पुरुष है ।

१२२८—सुख का रहस्य यह है—“जितना ही तुम चीजों को ढूँढ़ते हो, उतना ही तुम उन्हें खोते हो ।” जितना ही आप कामना से परे होते हैं उतना ही आप अपने को आवश्यकता से भी परे पाते हैं, उतना ही भौतिक पदार्थ आपका पीछा करता है ।

१२२९—आनन्द से ही सब कुछ की उत्पत्ति, आनन्द में ही सबकी स्थिति और आनन्द में ही सबकी लीनता देखने से आनन्द को पूर्णता का अनुभव होता है ।

१२३०—प्रतिकूल परिस्थितियों में तथा विपत्ति में धैर्य पूर्वक निर्भय तथा निश्चित रहकर अपना कर्त्तव्य पालन करते रहना आस्तिक बुद्धि का परिचय है ।

१२३१—ज्ञानी सदा अभय तथा निश्चित नित्य अपने आप में तृप्त, शान्त एवं गम्भीर रहता है । जो हर्ष, शोक, लाभ-हानि, संयोग, वियोग, सम्मान तथा अपमान के अवसर पर सम एवं अचञ्चल रहता हो । जो सत्य वस्तु को जानता है वह असत वस्तु का लोभी मोही, अभिमानी नहीं रहता । वह दूसरों के शोक को हर लेता है । ज्ञानी क्षमा करने में वीर होता है ।

१२३२—यह जगत् मानसिक सृष्टि है। यह संस्कार मात्र है। निद्रा में कोई संस्कार नहीं। यदि मन है तो जगत् भी है। राग-द्वेष के दो प्रवाह मन के जीवन को बनाये रखता है। यदि दोनों प्रवाहों को विनष्ट कर दिया जाय तो मन मृत्यु को प्राप्त करेगा। इसे मनोनाश कहते हैं। जिस योगी को मनोनाश की प्राप्ति है वह जगत् का अनुभव नहीं करता।

१२३३—जिस प्रकार सर्प भ्रान्ति के विलीन होने पर रज्जु को देखते हो। उसी प्रकार जगत् एवं शरीर की भ्रान्ति के विलुप्त होने पर तुम ब्रह्म को ही देखोगे।

१२३४—जन्म मृत्यु न ते चित्तम् बंध मोक्षौ
शुभाशुभौ ।

कथम् रोदिसि रे वत्स नामरूपम् न
ते न मे ।

अर्थ—हे शिशु, तुम क्यों रोते हो ? तुम में नाम रूप तो है ही नहीं ?

न तो बंधन है और न मुक्ति न शुभ है न अशुभ !
उठो, बद्धपरिकर वनो ! मन तथा इन्द्रियों से संग्राम करो तथा अपने सच्चिदानन्द स्वरूप में निवास करो ।
नाम रूप नहीं है, यह संसार तुममें नहीं है। यह तो संकल्प मात्र है ।

१२३५—मैं तो अव्यय अविनाशी, अनन्त, असीम, शुद्धविज्ञान, विग्रह, शुद्धचैतन्य घन, प्रज्ञानघन, आनन्द-घन हूँ । मैं तो जानता ही नहीं कि सुख क्या है ? और दुःख क्या है ?

१२३६—तुम में मानसिक कर्म नहीं है, शारीरिक कर्म तुम में नहीं है, वाणी सम्बन्धी कर्म तुम में नहीं है । शुद्ध अमृत इन्द्रियों के पहुँच से परे यहो तुम्हारा ईश्वरीय तथा ब्राह्मी स्वरूप है ।

१२३७—वेदान्तसार सर्वस्वम्, ज्ञान विज्ञान-
मेव च ।

अहमात्मा निराकारः सर्वव्यापी
स्वभावतः ।

मैं सर्वव्यापी निराकार आत्मा हूँ । तुम इस वाक्य पर ध्यान कर सकते हो ?

१२३८—यह जगत् दर्पण के समान है । यदि तुम मुस्कराते हो तो यह भी मुस्कराता है । यदि तुम त्योंही चढ़ाते हो तो यह भी वैसा हो करता है ।

१२३९—कभी निराश न बनो, बढ़ते चलो । दूसरों की मान हानि न करो । धैर्य आत्म साक्षात्कार की कुंजी है । सारी सृष्टि ही मेरा परिवार है । अहिंसा वीरता की पराकाष्ठा है ।

१२४०—संसार तो अपने अन्दर है, बाहर तो उसका प्रतिबिम्ब मात्र है। तेरे ही प्रकाश से यह सब प्रकाशित है और तेरे सो जाने पर संसार का भी प्रलय हो जाता है।

१२४१—कर्मयोगी की विधि—मनुष्य से कर्म नहीं चिपकता। कारण कि कर्म जड़ है। जड़ वस्तु चेतन से चिपक नहीं सकती। हां, चेतन ही उसे चिपका ले तो दूसरी बात है। कर्म हम करते हैं कि कर्म हमें करता है। भगवान कहते हैं कि कर्म मुझे नहीं चिपकते, क्योंकि कर्म फल में मेरी स्पृहा नहीं है।

१२४२—कर्म को विकर्म बना दो तो कर्म भार रूप नहीं होता अर्थात् जो कर्म करते हो उसमें मन मिला दो। कर्म में मन के मिल जाने पर विकर्म बन जाता है। भार शरीर को नहीं लगता, मन को लगता है। जब किसी कर्म में हमारा मन नहीं लगता तभी वह कर्म हमें भार रूप प्रतीत होता है।

१२४३—विकर्म करते २ हम अकर्म अवस्था में पहुँच जायेंगे। जहाँ पहुँच जाने पर विकर्म भी अकर्म बन जायगा हम सब कुछ करते हुए भी अकर्म ही रहेंगे। हमारा कर्त्तापन का अभिमान ही गल जायगा। अभिमान उसी कर्म का होता है जो कर्म हमसे कभी

कभी हुआ करता है । हम निरन्तर स्वांस लेते रहते हैं अतः मैं निरन्तर स्वांस लेता हूं ऐसा अभिमान नहीं रहता । पर आसक्ति तो शेष रह जाती है । कोई हमारा स्वांस बन्द करदे तो तड़फड़ाने लगेंगे । यह आसक्ति भी जनता जनार्दन की सेवा में समर्पित कर देने से दूर हो जाती है ।

१२४२—हम व्याकुल क्यों होते हैं ? इसलिए कि अमुक वस्तु मुझे मिलनी चाहिए । ऐसा क्यों होता है ? स्वार्थ के कारण । स्वार्थ क्यों होता है ? राग से, राग क्यों होता है ? अज्ञान से, अज्ञान क्या है ? उस वस्तु को अपने से भिन्न जानना ।

१२४५—कर्मयोगी गंगा की तरह कर्म करता है और ज्ञानी हिमालय की तरह । अर्थात् पशु के कर्म में क्रिया की प्रधानता होती है और ज्ञानी के कर्म में ज्ञान की प्रधानता होती है या ज्ञान ही ज्ञान होता है और मनुष्य के कर्म में भाव की प्रधानता होती है ।

१२४६—जिस क्षण पुरुष सब भूतों को एक में ही स्थित देखता है और उसी एक में से सब भूतों का विस्तार देखता है । उसी क्षण वह ब्रह्म बन जाता है । (देर नहीं लगती)

१२४७—जब हम किसी से ऊब जाते हैं तब हम

उसी की निन्दा करने लगते हैं । या उसका तिरस्कार कर बैठते हैं अथवा उस से घृणा आदि व्यवहार करते हैं ।

१२४८—जिसकी दृष्टि में आत्मा ही सब भूत हो रहा है । उस निरन्तर एकत्व देखने वाले विज्ञानी पुरुष को, मोह कहां ? शोक कहां ? दूसरा सब भूत आत्मा हो गये दोनों एक ही हैं ।

१२४९—सब भूतों में मैं और मुझ में भूत ऐसा विशालतम मातृ हृदय उसे मिल जाता है । क्या मां अपनी सन्तान से ऊबती है ? मां क्यों खाती है ? अपने बच्चे की पुष्टि के लिये । बच्चे की भूख मां को लगती है न कि बच्चे को । बीमार बच्चा होता है उसका दर्द होता है माता के हृदय में । क्योंकि मां बच्चे में अपने को देख रही है और अपने में बच्चे को यहाँ ऊबने-वाबने का प्रश्न ही कैसा । ऊब जाता है किसी दूसरे से, बाह्य द्वैत रहने पर भी हृदय में अद्वैत हो गया ।

१२५०—अपने आप पर प्रेम होता है और दूसरे पर मोह । जो किसी का नहीं होता है वही सब का होता है, जो सब का होता है वह किसी का नहीं होता ।

१२५१—संत महात्मा की देह को ही न पूजते रहो, उनकी बुद्धि में जो ज्ञान प्रकाशित है, उसमें जो दैवी गुण हैं उनकी उपासना करो ।

१२५२—भगवान को अपने से भिन्न न मानो, यही प्रेम है ।

१२५३—यदि तुम आस्तिक हो तो सदा प्रसन्न, निर्भय, निश्चिन्त रहना चाहिये और सब को भी रखना चाहिये ।

१२५४—संसार में आत्म स्वरूप से सभी अभिन्न हैं, कोई दूसरा है ही नहीं, इस प्रकार स्वरूप की एकता का बोद्ध होने पर भेद-भाव का अभिमान दूर होता है ।

१२५५—दुःख में धैर्य पूर्वक प्रसन्न और संकट के समय स्थिर बुद्धि द्वारा विवेक से काम लो, सृत्यु के प्रति अभय रहो ।

१२५६—भगवान सदा मेरे साथ हैं । मैं सब भयों से मुक्त हूं । भगवान की उपस्थिति भय के अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर देती है और मैं सदा प्रकाश में रहता हूं । जब मैं शांत भाव से कहता हूं भगवान ही एक मात्र मेरा आश्रय है, मैं किसी भी स्थिति में विचलित नहीं होऊंगा, तो बाहरी भय, प्रतिकूलतायें

एवं कठिनाइयां तत्क्षण विलीन हो जाती हैं ।

१२५७—मैं सदा भगवान के साथ हूँ । जब मैं भगवान की सन्निधि को अनुभव करता हूँ तब अपने को पूर्ण स्वतन्त्र समस्त भयों और प्रतिकूलताओं से सर्वथा मुक्त पाता हूँ । मेरा जीवन विस्तृत एवम् अभाव रहित है और मेरा हृदय भगवदीय प्रेम से भरा है । मैं कभी भी अपने को दुःखी या अकेला अनुभव नहीं कर सकता, क्योंकि भगवान मेरे सदा साथ हैं ।

१२५८—जैसे स्वप्न द्रष्टा ही सर्व स्वप्न पदार्थों की रक्षा, नाश कर्त्ता है, अन्य जाग्रत पुरुष भी नहीं करते तथा स्वप्न पदार्थ भी आपस में रक्षक नाशक नहीं होते ।

१२५९—स्वप्न में स्वप्न द्रष्टा ही सर्वरूप है वैसे ही जाग्रत में जाग्रत द्रष्टा ही सर्वरूप है ।

१२६०—गुप्त और प्रकट सर्वत्र एक नारायण ही है । जब सब नारायण है तो भय किससे होवे, भय दूसरे से होता है । जैसे जहां सर्व अग्नि ही अग्नि हो, दूसरी काष्ठादि वस्तु न होवे तब अग्नि किसको जलावे, अग्नि अग्नि को दाह करता ही नहीं । जैसे महात्मा ध्रुव सूक्ष्म और स्थूल परिच्छिन्न अहंकार को

त्याग कर “अपने सहित सब नारायण है” ऐसा देखने लगा । इस दृढ़ भावना के कारण “अग्नि आदि सर्व जगत नारायण ही है” ऐसा देखने लगा, अब उसको भय, मोह कहाँ से होवे ।

१२६१—हमारी हमको नमस्कार है । हमको ही सब दृश्य नमस्कार करता है । हमारी ही जय है । जैसे स्वप्न द्रष्टा को ही स्वप्न सृष्टि नमस्कार करती है । स्वप्न द्रष्टा बिना स्वप्न सृष्टि सिद्ध ही नहीं होती । यहो नमस्कार है । तद्वत् इस मिथ्या नाम रूप प्रपञ्चके हम ही पूज्य हैं ।

१२६२—यह सर्व जगत् नेत्रों के खोलने से उत्पन्न होता है, यदि फुरणमात्र जगत् नहीं होता तो सुषुप्ति में भी प्रतीत होना चाहिए । परन्तु नेत्र मूंदने से मिट जाता है । इससे मिथ्या है और मिथ्या को सिद्ध करने वाला तू चैतन्य सत्ता है ।

१२६३—यह सर्व नाम रूप जगत मैं ही हूँ । मुझ चैतन्य बिना न कोई हुआ है न होगा, मुझ चैतन्य की ही सर्व उपासना, प्रार्थना तथा पूजा करते हैं, मैं ही चैतन्य सबको आप अपने कर्मों के अनुसार फल देता हूँ ।

१२६४—एक आत्मा चैतन्य मैं हूँ, द्वैत है ही नहीं,

तब निःसंशय तद्रूप होगा । जब सर्व मैं ही हूं तो सुख दुःख कहां है । और भय, शोक, चिन्ता कहां है । जो दृश्य मात्र जगत है सो स्वप्न समान है ।

१२६५—जिस पदार्थ को मन देखता है । वह पदार्थ पूर्व कोई नहीं, चित्त के फुरने से उदय होता है । जब चित्त फूरा कि यह पदार्थ है तब आगे पदार्थ हुआ और फुरने से रहित होकर देखे तो पदार्थ कोई नहीं भासता केवल शांत पद है ।

१२६६—जो सच्चे प्रेमी है वे दुनियां की परवाह नहीं करते कि दुनियां हमारे प्रतिकूल है या अनुकूल वे तो केवल सत्य को ही अपने लिये अच्छा समझते हैं ।

१२६७—माता, पिता, वृद्धों और अतिथियों की सेवा तन मन धन से करो । हां, यदि ऐसा करने से ईश्वर या सच्चाई के मार्ग में रुकावट हो तो इसके विपरीत कर सकते हो परन्तु इस बात का निश्चय ब्रह्मवेत्ता महात्मा से कर लेना चाहिए ।

१२६८—“मैं एक ही ईश्वर अनेक रूप हूं” जैसे स्वप्न द्रष्टा एक ही अनेक रूप होता है इससे यह सृष्टि ज्योति रूप ईश्वर ही है । जैसे सूर्य की किरणें सूर्य स्वरूप हैं । जब सर्वरूप ईश्वर ही पूर्ण हुआ तो

आपको तिससे भिन्न शरीर का जीव मानना केवल अज्ञान है ।

१२६६—जो पदार्थ चक्षु से जाने जाते हैं और श्रोत्र कर सुने जाते हैं, उन सब पदार्थों को मिथ्या निश्चय करके मुमुक्षु एक ब्रह्मात्मा की भावना करें तभी अधिकारी कृतकृत्य भाव को प्राप्त होता है ।

१२७०—सब एक ही है । एक को भला और एक को बुरा ईश्वर रूप आत्मा विषे कैसे गिनिये । मूल विषे मनुष्य पशु-स्थावर जंगमादि विचारवान् को सम हैं भेद नहीं । व्यवहारिक जो लघु, दीर्घ, नीच, ऊंचादि भेद भासता है, सो फल कर्मों का है और अपने मूल के अज्ञान से भासता है । जैसे वृक्ष के शाखा पत्र फल फूल का जो भेद भासता है सो मूल के अज्ञान से भासता है, जैसे स्वप्न पदार्थों का जो भेद भासता है सो स्वप्न द्रष्टा के अज्ञान से भासता है । स्वप्न द्रष्टा के दृष्टि से नहीं ।

१२७१—संस्कार ही पदार्थ रूप बन कर बाहर दोखता है । फिर वही पदार्थ संस्कार रूप होकर हृदय में स्थित हो जाता है । जैसे बीज से अंकुर पैदा होता है और अंकुर से बीज फिर बीज से अंकुर पैदा होता है । उसी प्रकार संस्कार से पदार्थ व पदार्थों से संस्कार

होते चले जाते हैं ।

१२७२—जैसे समुद्र सर्व तरंगों को अपने में सदा प्राप्त देखता है । पुनः स्वतः प्राप्त जो लहरें हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए यत्न नहीं करता है । वैसे ही ज्ञानवान् पुरुष चौदह लोक के भोग पदार्थ अपने स्वरूप समुद्र में तरंगवत् सदा प्राप्त देखता है । ज्ञानी पुरुष उत्पत्ति नाश होने वाले पदार्थों को कल्पित असार जानता हुआ किसी वस्तु को राग से दृढ़ इच्छा नहीं करता ।

१२७३—देवता दैत्य, मनुष्य, पशु, पक्षी, आदिक सर्व जगत स्वप्नमय है । स्वप्न में राजा-महाराजा, राज्य कर रहे हैं । स्वप्न में ही जन्म-मरण होता है । स्वप्न में लड़ाई-भगड़े हो रहे हैं । स्वप्न में ही संयोग तथा स्वप्न में ही वियोग होता है । धनी लोग स्वप्न में ही कंगाल तथा स्वप्न में ही कंगाल धनी हो रहे हैं । स्वप्न में सोना-जागना है जैसे इन्द्रजाल का तमाशा मनोराज्य की रचना होती है वैसे ही समस्त संसार मिथ्या है ।

१२७४—हे राम जी ! एक कवच तुमसे कहता हूं, उसको धारण करके विचार तो, यद्यपि अनेक शस्त्रों को वर्षा हो तो भी तुम्हें दुःख नहीं होगा । “जो कुछ देखता, सुनता है” उसे सब ब्रह्म जान और बारम्बार

यही भावना कर कि ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं । जब ऐसी भावना दृढ़ करेगा तब कोई शस्त्र छेद नसकेगा यह ब्रह्म भावना ही कवच है । जब इसको तू धारेगा तब सुखी होगा ।

१२७५—तू चैतन्य आत्मा नित्यमुक्त स्वरूप है ।

भ्रमकर आपको न जान के मुक्ति की आशा औरों से करता है । अनेक कर्म उपासनादि का भ्रम से क्लेश सहता है । ऐसा भ्रम करता है कि गुरु, शास्त्र, ईश्वर मेरी मुक्ति करेगा तो होगी, यह नहीं जानता कि मुक्त नित्य मुक्त चैतन्य साक्षी आत्मा की स्वप्नवत् गुरु शास्त्र ईश्वरादि सर्व संसार कल्पना है । मैं नहीं कल्पूँ तो कहाँ है ।

१२७६—जो विश्व ही असत् है तो भय और शोक किसका करता है । न कोई जन्मता है न मरता है, न सुख है, न दुःख है, ज्यों का त्यों आत्मा स्थित है ।

१२७७—किसी दृश्य पदार्थ को सुखदायी न जान और दुःखदायी भी न जान । सुख और दुःख दोनों मिथ्या हैं ।

१२७८—ज्ञानी लोग नेत्र से आकाश का रूप देखने पर भी अन्तःकरण में उसको रूपहीन करके समझते

हैं । उसी प्रकार इन्द्रियों से जगत् के रूप आकार आदि दर्शन करने पर भी उसकी आत्म स्वरूपता ही अन्तःकरण में उपलब्धि करते हैं । जिस तरह मिट्टी के सांप, बाघ आदि किसी को डरा नहीं सकते, वैसे ही आत्मामय जगत् ज्ञानी को मुग्ध करने में समर्थ नहीं होता । जो लोग संसार को सत्य मानते हैं वही उसमें मुग्ध होते हैं ।

१२७६--यदि तुम सर्वांग पूर्ण जीवन का आनन्द लेना चाहते हो तो कल की चिन्ता छोड़ो । तुम अपने चारों ओर जीवन के बीज बोओ । भविष्य में सुनहरे सपने देखने की आदत बनाओ । सदैव के लिये मन में यह बात बैठा लो कि तुम्हारा कल अत्यन्त प्रकाशमय, मधुर और आनन्दमय होगा । कल तुम अपने को आज से भी सौभाग्यशाली पाओगे । मुझे अपने कार्यों में कल और अधिक सफलता प्राप्त होगी । कल वह समय आवेगा, जब मेरा मन उत्पादक शक्ति से भर जायगा और मेरा जीवन ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो जायगा । कल पर मुझे पूर्ण विश्वास है । मुझमें इतनी शक्ति है कि विघ्न बाधाएँ डर कर दूर भाग जायेंगी । कल मैं आज से भी अधिक प्रसन्न रहूँगा । ऐसी विचार धारा से निश्चय ही परम कल्याण होगा । जब तक तुम इसे

पूर्ण रूप से ग्रहण न कर लो तब तक निरन्तर जापज करते रहो । तुम्हारे संशय उड़ जायेंगे और कल की चिन्ता नहीं सतायेगी ।

१२८०—आत्म-शक्ति जाग्रत करने के लिये संकेत—मैं अकेला होते हुए भी शक्तिशाली हूँ । मेरे अन्दर वह शक्ति है, जो स्वतन्त्रता पूर्वक कार्य कर सकती है । मैं दूसरों का अनुगामी न बनूँगा । मैं कभी दूसरों का अनुकरण न करूँगा । मैं अपनी महत्ता और प्रतिभा का प्रभाव दूसरों पर डाल सकता हूँ । सच्ची शक्ति मेरे भीतर विद्यमान है । मुझे अपनी शक्तियों पर पूरा भरोसा है । मैंने अकेले ही सफलता प्राप्त करने की दृढ़ प्रतिज्ञा की है । मेरी प्रतिज्ञा दृढ़ है और अटल है । उसे भगवान अवश्य पूर्ण करेंगे । अकेले पन से भयभीत मत हो । आप ही शक्ति और सुख आप में ही है ।

१२८१—जो दूसरों का सहारा चाहते हैं, जो सदा एक न एक अगुआ ढूँढा करते हैं, उनसे मैं कहूँगा, ओ थोथी विचार वाले हलके मनुष्यो ! तुम अपनी अन्तरात्मा के हृदय में स्थित परमेश्वर के दृढ़ आश्रय को ढूँढो, उसी पर डटे रहो, उसी पर विश्वास लाओ, उसी का सम्मान करो ।

१२८२—मृत्यु के लिए सदैव तैयार रहना ही निर्विघ्न सुखी रहने का उपाय है ।

१२८३—मैं अभय हूँ, मैं बलवान हूँ, मैं सासी हूँ, मैं आरोग्य हूँ, मैं आनन्दमय हूँ, मैं ज्ञान हूँ, मैं विजय हूँ, मैं सफलता हूँ, मैं प्रेम हूँ, मैं सच्चिदानन्द हूँ और नित्य मुक्त स्वभाव वाला हूँ । ऋद्धि, सिद्धि, विजय, लक्ष्मी, मेरी दासी है । मैं सर्व शक्तिमान हूँ । यह एक आत्मावादी का आत्मा प्रेरक चार्ट है ।

१२८४—यदि आप रोग और व्याधि से मुक्त रहना चाहते हैं तो हल्की मुस्कराहट को स्वभाव को स्थायी अंग बना लीजिए । जो मुस्कराते हुए जीवन व्यतीत करेगा, उसका जीवन उतना ही मधुरता से परिपूर्ण होगा ।

१२८५—रोग विनाशकारी भावना—प्रतिदिन प्रातः सायं १५ मिनट के लिये शांत चित्त निर्विकार निश्चिन्त होकर बैठ जाइये । और आरोग्य, आनन्द, सुख, शान्ति प्रदान करने वाली विचार धारा में रमण कीजिए । बीमारी के विचार हटाकर निम्न भावना पर मन को दृढ़ता से एकाग्र कीजिए—मेरे भीतर आरोग्य एवं आनन्द का अनन्त स्रोत प्रवाहित हो रहा है । मेरे अन्तराल में दिव्यामृत का महासागर है । मैं

अनुभव कर रहा हूँ कि सारा सुख, आरोग्य, स्वास्थ्य, और शक्ति मेरे भीतर है। मेरे मन में अनन्त शक्ति और सामर्थ्य है। मैं स्वस्थ हूँ, पूर्ण प्रसन्न हूँ आनन्दित हूँ। परमात्मा का दिव्य प्रकाश मेरे भीतर-बाहर सर्वत्र फैला हुआ है। मैं विक्षेप रहित हूँ सब द्वन्द्वों से मुक्त हूँ। आनन्दमय हूँ। स्वर्ग सुख मेरे भीतर है। मेरा हृदय-परमात्मा का गुप्त प्रदेश है। जहाँ परमात्मा का निवास है, वहाँ रोग-शोक क्योंकर ठहर सकता है ? मैं दैवी ओज के मण्डल में प्रविष्ट हो गया हूँ। यहाँ परमात्मा का गुप्त प्रदेश मेरे आरोग्य और स्वास्थ्य का प्रदेश है। मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ, तेज से परिपूर्ण हूँ। शक्ति का पुंज हूँ। परम सामर्थ्यवान् हूँ। मेरे अंग २ में शान्ति का निवास है। मैं मन की चंचलता, बीमारी की कल्पना से सर्वथा मुक्त हूँ। स्मरण रखिये, स्वास्थ्य, सुख, आनन्द, शान्ति सब आप के अन्तःकरण में ईश्वरीय वरदान के रूप में विद्यमान है। अपने अन्तःकरण को ध्वनि सुनकर निशंक जीवन व्यतीत कीजिये। अपने अन्दर जो कल्लि रोग के विचार हैं, उन्हें निकाल दीजिए। अपने प्रत्येक उच्चारण, भाव, शब्द और कार्यों को ईश्वरीय शक्ति से परिपूर्ण रखिए। आरोग्य, लाभ करने का इससे उत्तम दूसरा

मार्ग नहीं है ।

१२८६—हंसो और सम्पूर्ण संसार तुम्हारे साथ हंसेगा । रोओ, किन्तु तुम्हारे साथ रोने वाला कोई न मिलेगा । वास्तव में संसार आपको तभी पसन्द करता है जब आप हंसते मुस्कराते हैं ।

१२८७—“कल्याण प्राप्ति की कई युक्तियाँ” प्रतिदिन नियम पूर्वक एकान्त में बैठ कर मनसे सम्पूर्ण संसार को भूल जावे । इस प्रकार संसार को भुला देने से केवल एक चैतन्य आत्मा शेष रह जायेगा तब उस चैतन्य स्वरूप का ध्यान करे । ध्यान करने से समाधि हो जाती है और मुक्ति हो जाती है ।

१२८८—आनन्दमय का अभ्यास—आनन्द परमात्मा का स्वरूप है । चारों तरफ बाहर-भीतर आनन्द ही आनन्द भरा हुआ है, सारे संसार में आनन्द छाया हुआ है । यदि ऐसा दिखलाई न दे तो वाणी से केवल कहते रहो और मन से मानते रहो । जल में डूब जाने गोता खा जाने के समान निरन्तर आनन्द ही में डूबा रहे और गोता लगाता रहे । रात दिन आनन्द ही में मग्न रहे । किसी की मृत्यु हो जाए, घर में आग लग जाय अथवा और भी कोई अनिष्ट कार्य हो जाय तो भी आनन्द ही आनन्द कुछ भी केवल आनन्द ही आनन्द ।

इस प्रकार के अभ्यास करने से सम्पूर्ण दुःख एवं क्लेश नष्ट हो जाता है । वाणो से उच्चारण करे तो केवल आनन्द ही का, मन से मनन करें तो आनन्द ही का तथा बुद्धि से विचार करे तो आनन्द ही का, परन्तु यदि ऐसी प्रतीति न हो तो कल्पित रूप से ही आनन्द का अनुभव करो । इसका भी फल बहुत अच्छा होता है । ऐसा करते करते आगे चल कर नित्य आनन्द की प्राप्ति हो जाती है । इस साधन को सब कर सकते हैं । हम लोगों को यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हम सब एक आनन्द ही हैं । ऐसा निश्चय कर लेने से आनन्द ही आनन्द हो जायगा ।

१२८६—भगवान् की मूर्ति या चित्र को सामने रख कर तथा आंखें खोलकर उनके नेत्रों से अपने नेत्र मिलावे । त्राटक की भांति आंखें खोल कर उसमें ध्यान लगावे, ध्यान के समय यह विश्वास रखे कि इसमें भगवान् प्रकट होंगे । विश्वास ऐसा ध्यान करने पर इससे भी भगवान् मिल जाते हैं । यह भी भगवन् प्राप्ति का सुगम साधन है । वास्तविक रूप में नितान्त निराकार और समस्त सांसारिक विषयों से निर्लिप्त हैं, इसी तरह अपने निर्लिप्त रूप से संसार के सब भूतों का आत्मा भी मैं ही हूं । सारांश यह

कि जो मनुष्य इस प्रकार हर रखे हैं ।

१२८०—मन से कहे जहां तुम्हारी इच्छा हो वही जाओ । सब रूप तो भगवान ने ही धारण कर रखे हैं । जो भी वस्तुयें दिखलाई देती हैं वे सब परमात्मा नारायण के ही रूप हैं । सारे संसार में सबको भगवान का रूप समझकर मन ही मन भगवद् बुद्धि से सबको प्रमाण करे । एक परमात्मा ने ही अनन्त रूप धारण कर लिए हैं । इस प्रकार के अभ्यास से कल्याण हो जाते हैं ।

१२८१—अनिष्ट की प्राप्ति में ज्ञान की दृष्टि से शोक निवारण का उपाय इस बात को स्वप्न के दृष्टान्त से समझाया जाता है । स्वप्न में किसी को रोग हो जाय, कैद या बंधन हो जाय अथवा जल प्लावन आदि कोई अन्य संकट उपस्थित हो जाय या बाध, भालू, सर्प आदि से भय प्राप्त हो तो नेत्र खुलने पर उस अनिष्ट की सत्ता नहीं रहती । जब नेत्र खुलने पर जाग्रत में उस वस्तु की सत्ता नहीं रहती, तब विचार से ऐसा समझ में आता है कि स्वप्न के समय भी उसका अभाव ही था । अज्ञान के कारण निद्रा दोष से बिना हुए ही उसको प्रतीति हुई थी । जिसके कारण उस स्वप्न को देखने वाला दुःखी हो गया था । उपर्युक्त स्वप्न के दृष्टान्त से यह मानना चाहिए, कि

जाग्रत में हमें अपने मन के प्रतिकूल किसी अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है । तो वह भी वास्तव में असत्य ही है । क्योंकि कुछ समय के बाद उस वस्तु का अभाव हो जाता है, और जिस वस्तु का अभाव हो जाता है वह वास्तव में है ही नहीं ।

१२६२—निस्सन्देह मन ही संसार है । प्रथम मन की फुरना होती है । पुनः फिर प्रपंच की कल्पना बंध मोक्ष आदि कल्पना होती है ।

१२६३—जब तुम किसी सूक्ष्म विषय की छान-वान में मग्न होते हो, तो यद्यपि आँखें खुली हों, सामने से चाहे जो निकल जाय, दिखाई नहीं देता । कान बंद न हों, पर हल्ला-गुल्ला सुनाई नहीं देता । कारण यही कि तुमने उस ओर ध्यान नहीं दिया, तुम्हारी ओर से 'अस्तु' नहीं बोला गया । यदि रूप और शब्द तुमसे अलग कुछ अस्तित्व रखते हों तो आँखें जो खुली थीं और कान भी जो खुले थे, दिखाई क्यों नहीं दिये ? सुनाई क्यों न दिये ? कुछ अनुयोगी महाशय जब सोते हैं तो आँखें खुली रहती हैं, कान तो सबके सब खुले रहते ही हैं, पर सामने की दीवार, छत, पेड़ आदि खुली आँखों को दिखाई नहीं देते, साथ में साँप लेट जाय, मालूम नहीं पड़ता, नक्कारे बज रहे

हों, सुनाई नहीं पड़ता, कारण यही कि सबका अस्तित्व तेरे स्वरूप पर स्थिर है । तेरे अस्तु का भिखारी है । यदि ये वस्तुयें साक्षी से भिन्न अस्तित्व रखती हों तो अपना अस्तित्व प्रकट कर सकती थीं, पर नहीं, हमारा साक्षी बनना और उनका विद्यमान होना दोनों सापेक्षक है । तुम्हारा देखना ही सृष्टि का प्रत्यक्ष है । दृष्टि में ही सृष्टि है; ज्ञाता और ज्ञेय पृथक-पृथक नहीं ।

१२६४—प्रसन्नता पूर्वक अपमान सहन करने और नम्रता धारण करने से अभिमान की निवृत्ति होती है ।

१२६५—भय केवल अज्ञान की छाया है, यह दोषों की काया है और मनुष्य को धर्म पथ में रोकने वाली आसुरी शक्ति की यही भय माया है ।

१२६६—मुझे अपने चरित्र पर पूर्ण विश्वास है, चाहे संसार के सारे पत्रकार मेरे विरुद्ध आलोचना करें तो बाल बराबर भी कुछ नहीं बिगाड़ सकते ।

१२६७—निर्धन-रोगी इत्यादि कि जिससे प्रायः लोग घृणा करते हैं, उन्हें साक्षात् ईश्वर समझकर सेवा करना अनन्य भक्ति व आत्मज्ञान का वास्तविक स्वरूप है ।

१२६८—निर्भयता पूर्वक अपने अज्ञात "स्वात्मा-

नन्द" के सिंहासन पर अधिकार कर लेना मानव मात्र का कर्तव्य है।

१२६६—यदि तुम भूखे भी मर रहे हो, तो भी अपने पास का बचा हुआ रोटो का आखिरी टुकड़ा दे दो। यदि तुम दूसरे को देकर स्वयं भूखे मर जाओ तो तुम उसी क्षण मुक्त हो जाओगे।

१३००—पवित्र बनने के प्रयास में यदि मर भी जाओ तो क्या, सहस्र बार मृत्यु का स्वागत करो। हृदय को न खोना। यदि अमृत न मिले तो यह कोई कारण नहीं कि हम विष खा लें।

१३०१—उठो जागो। और जब तक ध्येय की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक रुको मत।

१३०२—सर्वव्यापी सच्चिदानन्द घन में स्थित होकर ज्ञान नेत्रों द्वारा ऐसे देखना चाहिए मानो सब कुछ मेरे ही संकल्प के आधार पर स्थित है। मेरे संकल्प करने से ही सबकी उत्पत्ति होती है और संकल्प के अभाव से ही सबका अभाव है। यों समझ कर फिर संकल्प भी छोड़ देना चाहिए। संकल्प त्याग के बाद जो कुछ बच रहता है वही अमृत है, वही सत्य है, वही आनन्दघन है इस प्रकार अचिन्त्य के ध्यान का तीव्र अभ्यास एकान्त में करना चाहिए।

१३०३—चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, उसकी सेवा ईश्वर की सेवा है । संसार को सुख पहुँचाना परमात्मा को सुख पहुँचाना है । निराकार, साकार सब एक ही तत्व है ।

१३०४—अद्वैत यह है कि मनुष्य एक के सिवाय दूसरे को देखे हो नहीं और समस्त संसार को एक हो देखे और एक ही समझे ।

१३०५—इस चराचर जगत् में जो कुछ प्रतीत होता है सब ब्रह्म ही है । कोई भी वस्तु एक सच्चिदानन्द घन परमात्मा से भिन्न नहीं है । इस प्रकार उपासना करे ।

१३०६—ज्ञान की दृष्टि से विचार किया जाय तो साँसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं ठहरती, क्योंकि संसार स्वप्नवत् है और स्वप्न के पदार्थ सब मायामय हैं, इसलिये उत्पन्न होने वाली अनुकूलता और प्रतिकूलता भी मायामयी है । जब मनुष्य स्वप्न से जागता है, तब स्वप्न के किसी पदार्थ को भी नहीं देखता और स्वप्न में प्रतीत होने वाले पदार्थों को मायामय समझता है । इसी प्रकार तत्त्वज्ञानी पुरुष संसाप के सम्पूर्ण पदार्थों को मायामय समझता है । तब अनुकूलता और प्रतिकूलता की कुछ

भी सत्ता नहीं रह जातो । फिर चेतन विज्ञानानन्द घन परमात्मा के अतिरिक्त कोई भी वस्तु उसको प्रतीत नहीं होती । उसकी दृष्टि में एक सर्वव्यापी नित्य विज्ञानानन्द ही रहता है और वह विज्ञानानन्द घन परमात्मा निर्दोष और सम है । इसलिये जिसकी स्थिति उस विज्ञानानन्द घन परमात्मा के स्वरूप में एकीभाव से हो जाती है, उसकी दृष्टि भी सम्पूर्ण संसार में सम हो जाती है और सांसारिक अनुकूलता और प्रतिकूलता की दृष्टि का अत्यन्त अभाव हो जाता है । तब राग-द्वेषादि सम्पूर्ण अनर्थों का एवं सम्पूर्ण दुःखों का अत्यन्त अभाव हो जाता है ।

१३०७—शब्द ब्रह्म की उपासना—करने वाले को जो कुछ भला या बुरा शब्द सुनाई देता है, उसे वह ब्रह्म मानकर उपासना करता है । ब्रह्म सम और एक है, इसलिये साधक को शब्द मात्र में सम बुद्धि हो जाती है । अतएव वह अनुकूल और प्रतिकूल शब्दों में राग-द्वेष और हर्ष-शोक से रहित हो जाता है । कोई उसकी स्तुति या निन्दा करता है तो इससे उसके चित्त में कोई विकार नहीं होता । शब्द मात्र को ब्रह्म मानने के कारण उसकी वृत्ति हर समय ब्रह्माकार बनो रहती है, जिससे उसका अन्तःकरण शुद्ध होकर उसे

परम शान्ति और परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है ।

१३०८—व्यवहार में कभी प्रिय विषयों की प्राप्ति होती है तो कभी अप्रिय की । अनुकूल में प्रियता और प्रतिकूल में अप्रियता होती है । ज्ञाननिष्ठा के साधक को उनमें प्रिय अथवा अप्रिय बुद्धि न करके ब्रह्म भाव करना चाहिए । और परमात्मा में अभिन्न भाव से स्थित होकर विचरण करना चाहिए । कहीं भी राग द्वेष नहीं होना चाहिए ।

१३०९—वह निर्गुण, निराकार, निष्क्रिय, निर्विकार परमात्मा इस क्षण भंगुर नाशवान जड़ दृश्य वर्ग माया से सर्वथा अतीत है । इस प्रकार उपासना करे । सचेत हो जाओ कि परमात्मा के अतिरिक्त और हर वस्तु असत्य अर्थात् भूटी है ।

१३१०—जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम, सम्पूर्ण चराचर जगत एक ब्रह्म है और वह ब्रह्म मैं हूँ । इसलिए सब मेरा ही स्वरूप है । इस प्रकार उपासना करे ।

१३११—जो नाशवान क्षण भंगुर मायामय दृश्य वर्ग से अतीत निराकार निर्विकार नित्य विज्ञानानन्द घन निर्विशेष परब्रह्म परमात्मा है, वह मेरी ही आत्मा है अर्थात् मेरा ही स्वरूप है । इस प्रकार उपासना करे ।

१३१२—यह सब का सब जगत परब्रह्म परमात्मा है । यह समस्त निश्चय ही ब्रह्म है । इसको उत्पत्ति, स्थिति और लय उस ब्रह्म से ही है । इस प्रकार समझकर शांत चित्त हुआ उपासना करे ।

१३१३—जो कुछ यह दृश्य वर्ग प्रतीत होता है वह सब अज्ञान मूलक है । वास्तव में एक विज्ञानानन्द घन अनन्त निर्विशेष ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है । इस प्रकार के अनुभव से वह इस जन्म-मृत्यु रूप संसार से मुक्त होकर अनन्त विज्ञानानन्द घन ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है ।

१२१४—इस जगत में एक परमात्मा के अतिरिक्त नाना, भिन्न, भिन्न भाव कुछ भी नहीं है । इसलिए जो इस जगत में नाना की भांति देखता है, वह मनुष्य मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है ।

१२१५—हम बोलना चाहते हैं तभी वाणी से शब्द उच्चारण होते हैं, मौन हो जाते हैं, तब नहीं होते । हम देखना चाहते हैं तभी बाहर का दृश्य दीखता है, नेत्र बंद करने पर नहीं देखता, इसी प्रकार हम जानना चाहते हैं तभी ज्ञेय का ज्ञान होता है, नहीं जानना चाहते तो नहीं होता, अतः जो कुछ भी पदार्थ देखने, सुनने या जानने में आते हैं उन सबका बाध करके

बाध करने वाली ज्ञानरूप बुद्धि की वृत्ति का भी बाध कर देना चाहिए । उसके बाद जो कुछ बच रहता है वह ज्ञाता है और वह ज्ञातृत्व धर्म रहित बुद्ध स्वरूप ज्ञाता ही नित्य सच्चिदानन्द ब्रह्म है । ऐसा समझकर ज्ञान और ज्ञेय से रहित केवल चिन्मय नित्य विज्ञानानन्द घन रूप से स्थित रहना चाहिये ।

१३१६—जो कुछ पदार्थ भासते हैं उन्हें आत्मा से भिन्न न जान । सर्व आत्मा ही है । आत्मा के सिवाय जो और भावना है उसका त्याग कर ।

१३१७—निश्चय रूप से आकाश ही नाम और रूप का आधार है और वह दोनों जिसके भीतर है वही ब्रह्म है । विकार तो वाणो का विलासमात्र है ।

१३१८—इन्द्रियां केवल कल्पित और आरोपित मात्र है । तथा कल्पित पदार्थों ही के ज्ञान के लिए बनाई गई हैं । अतः वह परमात्म तत्त्व को नहीं जान सकतीं, अपितु, उनके जानने के समय उसी तरह नष्ट हो जाती है, जिस तरह रज्जु का ज्ञान हो जाने पर उसमें कल्पित सर्प ज्ञान नष्ट हो जाता है, क्योंकि कल्पित पदार्थ वास्तविक पदार्थ के समान स्थित नहीं रह सकता ।

१३१९—संसार के समस्त पदार्थ परमात्मा की

कल्पना मात्र है और कल्पित पदार्थ कल्पना करने वाले के ज्ञान में होता है । अतः समस्त संसार के साथ सर्व तीव्र गति पदार्थ भी परमात्मा के ज्ञान में ही स्थित है और परमेश्वर का ज्ञान उसकी सत्ता से पृथक् नहीं है ।

१३२०—जो मनुष्य समस्त वस्तुओं को आत्मा में देखता है और सब वस्तुओं में आत्मा को देखता है वह इस (समदर्शिता) के कारण (किसी से) घृणा नहीं करता ।

१३२१—जो तत्त्वदर्शी संसार के समस्त चल और अचल पदार्थों को आत्मा (अपने आप) में देखता है और उनको अपने से बाहर और पृथक् रूप से नहीं देखता तथा इन समस्त पदार्थों में अपने आत्मा को देखता है अर्थात् उन पदार्थों के आत्मा को भी अपना ही आत्मा जानता है और यह समझता है कि जिस प्रकार मैं अपने शारीरिक समुदाय का आत्मा और उसकी समस्त चेष्टाओं का कर्त्ता होते हुए भी अपने वास्तविक रूप में निताम्त निराकार और समस्त सांसारिक विषयों से निर्लिप्त हूँ, इसी तरह अपने निर्लिप्त रूप से संसार के सब भूतों का आत्मा भी मैं ही हूँ । सारांश यह कि जो मनुष्य इस प्रकार हर

विशेषण से रहित अपने आत्मा की अव्यक्त सत्ता को ज्ञान दृष्टि से देख लेता है, वह इस दर्शन के कारण किसी से घृणा नहीं कर सकता ।

१३२२-घृणा अपने से अतिरिक्त किसी दूसरी अशुभ वस्तु को देखने से उत्पन्न होती है । और जिस व्यक्ति की दृष्टि में कोई दूसरा रहा ही नहीं, अपितु अपने शरीर की तरह संसार की सर्व सत्तायें उसको अपनी विश्वरूपी सत्ता के भीतर दिखाई देने लगीं, वह किससे घृणा करे । इस कारण कि इस अवस्था में किसी से घृणा करना अपने आप से घृणा करना है ।

१३२३-वास्तव में विपरीत परिस्थिति को दबा देने के लिए जो वीरता पूर्ण प्रयत्न है वही एक मात्र ऐसा है जो हमारी आत्मा को ऊपर उठाता जाता है ।

१३२४-यथार्थ ज्ञान त्याग और प्रेम से होता है । दुःखी प्राणी में त्याग और प्रेम विचार से, और सुखी प्राणी में त्याग और प्रेम सेवा से होता है । क्योंकि जो स्वयं दुःखी है वह सेवा नहीं कर सकता, किन्तु विचार कर सकता है । बेचारे सुखी प्राणी में सुख आसक्ति के कारण विचार उदय नहीं होता प्रत्युत वह सेवा कर सकता है ।

१३२५-जब हम मन इन्द्रिय आदि के संगठन से

अपने को असंग कर लेते हैं तब वे बेचारे अचेष्ट हो कर हमारे में ही सम हो जाते हैं और हम अपने परम स्वतन्त्र नित्य जीवन में विलीन हो अभेदता का अनुभव करते हैं ।

१३२६—जब बुद्धि और हृदय एक हो जाते हैं तब सारा जीवन ही साधन हो जाता है ।

१३२७—हमारे दुःखी होने से केवल हमीं को दुःख नहीं होता बल्कि हम विश्व में भी दुःख उत्पन्न करते हैं ।

१३२८—कर्म देहाभियान को जाग्रत करता है और सेवा स्वाभिमान को जाग्रत करता है । बड़े से बड़ा कर्म भी छोटी से छोटी सेवा के समान नहीं हो सकता । क्योंकि बेचारा कर्माभिमानी तो सर्वदा फल के लिए दीन रहता है ।

१३२९—जो ऐसा निश्चय करता है कि “मैं ही ब्रह्म हूं और मैं ही सबका मालिक हूं” और मैं ही सत्त संकल्प और सत्त काम हूं, मेरे में न तो पाप-पुण्य स्पर्श पाता है और न उसका फल लगता है । क्या देव लोक, क्या भू लोक, क्या अग्नि, क्या वायु, क्या चन्द्र, क्या सूर्य, क्या तारे सबके सब मेरे भीतर कल्पित हृदयाकाश में हैं और यही मेरा सिंहासन है ।

और फिर मरते हैं, उन्हीं के सत्यलोक हैं, वही सत्य काम हैं और सत्य संकल्प, सर्वशक्तिमान हो जाते हैं, और समस्त लोकों में कामाचार (स्वाधीन) होते हैं ।

१३३०—द्वैत जो भासता है उसका कारण माया है और वह माया अनिर्वचनीय है । न तो वह सत् है और न असत् है और दोनों के धर्म उसमें भासते हैं ।

१३३१—वास्तव में माया भी मिथ्या है । क्योंकि सत् से असत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं, और सत्-असत् का मेल भी सम्भव नहीं और असत् में कोई शक्ति ही नहीं अतएव जगत् केवल भ्रान्ति मात्र है और स्वप्नवत् है ।

१३३२—जो मनुष्य सुन के, छू के, देख के, खा के, सूँघ के, न प्रसन्न हो, न उदास हो उसे जितेन्द्रिय और शांत कहते हैं ।

१३३२—सन्यासी लोभ से स्वादिष्ट अन्य नहीं खाता तथा स्त्री का मुख नहीं देखता तथा इच्छित वस्तु किसी से नहीं चाहता ।

१३३४—नमस्कार करने से अथवा पूजा से जैसी प्रसन्नता होती है । यदि मार पड़ने पर भी जिस को वैसी ही प्रसन्नता हो तभी वह सच्चा भिक्षान्न का भागी होता है ।

१३३५—जो जाग्रत में सुषुप्ति के समान रहता है तथा जिसके जाग्रत नहीं रही यानि संसार सत्य नहीं रहा तथा जिसका ज्ञान संसारी वासना से रहित है वह जीवन-मुक्त है ।

१३३६—साधु पुरुषों द्वारा सत्कार किये जाने पर और दुष्ट जनों से पीड़ित होने पर भी जिस के चित्त का समान भाव रहता है वह जीवन मुक्त है ।

१३३७—बीती हुई को याद न करना, भविष्य की चिन्ता न करना और वर्तमान में प्राप्त हुए सुख दुःखादि में उदासीनता ये जीवन मुक्त पुरुष के लक्षण है ।

१३३८—क्रिया के नाश से चिन्ता का नाश होता है, चिन्ता के नाश से वासना का क्षय होता है और वासना का नाश ही मोक्ष है यही जीवन मुक्ति है ।

१३३९—साम्य दृष्टि आना चाहिए, यही सारी सृष्टि मंगलयम मालूम होनी चाहिए । जैसे मुझे खुद अपने पर विश्वास है वैसा ही सारी सृष्टि पर मेरा विश्वास होना चाहिए । यहाँ डरने की बात हो क्या है ? सब कुछ शुद्ध और पवित्र है । यह विश्व मंगलमय है क्योंकि परमेश्वर उसको देख-भाल करता है ।

१३४०—यदि कोई असली दुष्ट आ जाय तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट होगा भी तो संत हो जाएगा। देखो सृष्टि क्या है, एक आइना है, तुम जैसा होओगे वैसे ही सामने की सृष्टि में तुम्हारा प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। जैसी हमारी दृष्टि वैसा ही सृष्टि का रूप। इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है। अपनी मामूली क्रियाओं में भी ऐसी भावना का संचार करो फिर देखो क्या चमत्कार होता है।

१३४१—यदि यह भावना ही हो कि परमात्मा मेरे पास है तो सारा दुनियां के उलट पड़ने पर भी हरि का दास भयभीत न होगा।

१३४२—जहां आपने देह को आसक्ति छोड़ दी कि तुरन्त सम्राट हो जायेंगे। सारा सामर्थ्य आपके हाथ में आ जाएगा। कोई भी आप पर हुक्म नहीं चला सकता।

१३४३—मैं, तू, वह, मेरा तेरा मन का है सब कल्पित। जो कल्पित है सो मिथ्या है बात सत्य है निश्चित।

१३४४—यदि आप में अपने परम लक्ष्य को प्राप्त करने का दृढ़ संकल्प है तो प्रगति अवश्य होगी।

विनय भाव से सद्गुणों का विकास होगा । दूसरों की सेवा करने को सच्ची निःस्वार्थ धुन है तो हृदय अवश्य शुद्ध होगा । दृढ़ विश्वास है तो साक्षात्कार अवश्य होगा । यदि सच्चा वैराग्य है तो ज्ञान निःसन्देह होगा । यदि अटूट धैर्य है तो शान्ति अवश्य मिलेगी । यदि सतत प्रयत्न है तो विघ्न बाधाएँ अवश्य नष्ट होंगी । यदि सच्चा समर्पण है तो भक्ति अवश्य आ जायगी । यदि पूर्ण निर्भरता है तो निरन्तर कृपा का अनुभव अवश्य होगा । यदि दृढ़ परमात्मा चिन्तन है तो संसार का चिन्तन अवश्य मिट जायगा । यदि सद्गुरु का दृढ़ आश्रय है तो बोध अवश्य होगा । जहाँ सत्य का बोध होगा वहाँ समता अवश्य दृढ़ होगी । जहाँ पूर्ण प्रेम विकसित होगा वहाँ पूर्णानन्द स्थित अवश्य सुलभ होगी ।

जो यह जाव है यही ब्रह्म और यही सर्वआत्मा है । इससे इतर कोई ब्रह्म नहीं है । जैसे स्वप्न में अनेक रूपों को धारता है । फिर जाग कर एक का एक रहता है । उसी प्रकार यही ब्रह्मात्मा माया उपधि से मिलकर अनेक ब्रह्माण्ड आकारों को धारता है । जब विचार करता है तब उपधि को त्यागकर एक अद्वैत आनन्द रूप से स्थित होता है । और अनुभव

करता है कि मैं सर्व सामर्थवान् हूँ । सब प्रपञ्च मेरा रचा हुआ है । मैं ही कामना करने वाला हूँ । मैं ही क्रोधी लोभी हूँ । मैं ही माया द्वारा ईश्वर हूँ । मैं अविद्या द्वारा प्राज्ञ हूँ । इत्यादि मैं ही सब कुछ हूँ ।

१३४५—समुद्र के गर्जने, सिंह के गर्जन बिजली के गर्जने से आदि जितने भयानक शब्द हैं जिनको सुनकर भयमान नहीं होता, जैसे शूरमा धनुष का शब्द सुनकर भयभीत नहीं होता, जैसे ज्ञानवान मतवाले हस्ती और बैताल, पिशाच के शब्द सुनकर इन्द्र के वज्र का शब्द देवता का शब्द सुनता हुआ कम्पायमान नहीं होता, अरु आरे से शरीर को काटिये अरु खड्ग से कण कण करिये, बाणों से बेधा जावे तो भी कम्पायमान नहीं होता, उसे राग-द्वेष किसी विषे नहीं होता शरीर पर एक ओर जलता अंगार रखिये और एक ओर फूलों का स्पर्श रखिये तो भी हर्ष शोकवान नहीं होता अरु एक ओर खड्ग धारावत तीक्ष्ण स्थान होवे अरु एक ओर पुष्प शय्या होवे जिसको दोनों तुल्य है । एक ओर मारने वाला विष होवे दूसरी ओर जिवाने वाला अमृत होवे सो दोनों उसकी तुल्य है । लोहे के जम्बुरा के साथ उनका मांस तोड़िये अरु नरक विषे डालिये अरु ऊपर शस्त्रों को वर्षा होवे तो भी ज्ञान-

वान पुरुष भय को न पावेगा । अरु न उद्वेगवान व्याकुल होगा, न दीन होगा । ज्ञानवान इन विषे सदा सम रहता है । पहाड़ की नाई धैर्यवान स्थित रहता है ।

१३४६—जगत में सब हमारे मित्र हैं । हमारा किसी से कोई विरोध नहीं है हम सबसे प्रेम करते हैं । इस भावना की वृद्धि करने से क्रोध की उत्तेजना विलुप्त हो जाती है ।

१३४७—आत्मा सदा निर्भय है । उसे न कोई मार सकता है न डरा सकता है । उसी का ध्यान करने से साहस का संचार होता है ।

१३४८—मैं किसी से नहीं डरता, भूलकर भी डरके जंजाल में नहीं फंसता । मैं स्वतंत्र और मुक्त आत्मा हूँ । मेरी आत्मा सदा सर्वदा निर्भय है । मैं भीतर-बाहर सब जगह आत्मदेव को देखता हूँ । घातक भय के भाव मेरे मन मन्दिर में उदय नहीं हो सकते । मैं आत्मा पर पूर्ण विश्वास करता हूँ । मुझे अपने आप में असीम श्रद्धा है । मैंने निर्मय रहने का व्रत लिया है ।

१३४९—हमारी आत्मा को डर से कोई सरोकार नहीं है । यह आत्मा, अजन्मा, अविनाशी, सनातन अजर-अमर, एक रस नित्य है । यह नाश रहित है । इस आत्मा का शरीर से वही नाता है जैसे मनुष्य का

वस्त्र के साथ ।

१३५०—हम अजर-अमर आत्मा हैं । हमें कौन डरा सकता है ? आत्मा को भय किसका ? शोक कष्ट, दुःख, व्यथा, ईर्ष्या हमारी आत्मा पर क्यों कर अपना दूषित प्रभाव डाल सकते हैं । हम में आत्म बल पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है ? कोई भी विरोधी भाव क्योंकर हमारे हृदय को अशांत कर सकता है ? जो सदा एकरस है उसे किसका भय ? उसके सिवाय तो कुछ है ही नहीं ।

१३५१—आत्मा का निर्भय स्वरूप जाग्रत करने के लिए रात्रि में सोने से पूर्व कहो कि मेरा मन सदा शुभ संकल्प करने वाला है अशुभ या कलुषित विचारों से मेरा कोई भी सम्बंध नहीं, कोई मेरे प्रतिकूल नहीं है ।

१३५२—मैं परमात्मा का निर्मय पुत्र हूँ । अब मेरी आत्मा जाग उठी है । मैंने अपने हृदयस्थ आत्मा का दर्शन कर लिया है जो कि बल का महा सागर है ।

१३५३—मैं तो भावना के निरन्तर अभ्यास द्वारा मन की सब कायरता भय, कल्पित उद्वेग सदा के लिए दूर हो जाते हैं । सबसे मैं तो भावना रखने वाला संयमी सदा दूसरों का प्रिय होता है । उसे कोई हानि

नहीं पहुंचा सकता । वह परम निर्भय जीवन व्यतीत करता है ।

१३५४—मैत्री भावना मनुष्य को सबके प्रति चाहे मित्र हो अथवा शत्रु, पापी हो या पुण्यात्मा मित्रता का भाव रखना सिखाती है । जब हम समस्त विश्व में अपने मित्र ही मित्र देखने का अभ्यास कर लेंगे, न किसी का बुरा चाहेंगे न सोचेंगे ही—सब जीवों के प्रति कल्याण भावना हो रखेंगे तो फिर हमारा कौन शत्रु रह सकता है ।

१३५५—विश्व क्षमा की भवना का साधन—उस व्यक्ति के अन्तस्तल में अविराम शान्ति विराजती है । जिसने अपने समस्त वैरियों, शत्रुओं, पापियों, दुःखी करने वालों को क्षमा कर दिया है, जब आप क्षमा की भावना में रमण करते हैं तब स्वार्थ तथा प्रतिशोध का कल्मष भूल जाता है । उग्रता, क्रोध, प्रतिहिंसा की धारणा क्रमशः दूर हो जाती है और चित्त में समस्वरता का राज्य हो जाता है । ऐसा पुरुष अपना ही नहीं अनेकों का लाभ कर सकता है ।

१३५६—मैं सब जीवों को, शत्रुओं को, वैरी निन्दकों को हृदय से क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें । संसार में सभी हमारे मित्र हैं, सुहृद हैं,

शत्रु भी पपम मित्र है । इस प्रेम तथा क्षमा भाव से अक्षय शान्ति की उपलब्धि होती है ।

१३५७—मैं संसार से सर्वथा मुक्त हूँ । मेरा लगाव इतना ही है जितना कमल का जल से होता है । मैं संसार के मिथ्यात्व, अस्थिरता और व्यर्थता को समझ गया हूँ । मैं तो आत्मा हूँ ।

१३५८—वास्तव में दुःख का कारण दूसरों के दुःखों, कष्टों, न्यूनताओं, कमजोरियों और छिद्रों को देखना ही है ।

१३५९—संसार की कोई विषमता मुझे परेशान नहीं कर सकती । मेरे हृदय में ईश्वरीय शान्तिप्रेम का संचार हो रहा है । मेरा चित्त, स्वभाव, शान्त एवं निर्दोष हो गया है सम्पूर्ण अशान्ति, उद्वेग, मनो-विकार एवं कुभाव मेरे चित्त की भूमिका से उखड़ गये हैं । मेरा स्वभाव बिलकुल बदल गया है । संसार के प्रलोभन मुझे बन्धन में नहीं डाल सकते । मेरे पवित्र और शुद्ध अन्तःकरण में कोई क्षोभ और अशान्ति उत्पन्न करने वाली तरङ्गें हिलोरें नहीं ले सकतीं ।

१३६०—ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में सारा संसार सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है । असत, जड़ और दुःख उसे प्रतीत हो नहीं होता । उसकी दृष्टि में तो द्रष्टा दृश्य

और दृष्टि का भेद नहीं रहता वह तो एक निश्चल, निर्बाध और सच्चिदानन्द घन सत्ता मात्र रह जाता है । उसके द्वारा जो कुछ कार्य होते हैं वह दूसरों की ही दृष्टि में होते हैं । उसकी दृष्टि में तो न कोई कार्य है और न उसका करने वाला ही ।

१३६१—जगत् में जो कुछ स्थावर जंगम संसार है वह सब ईश्वर के द्वारा अच्छादनीय है अर्थात् उसे भगवत् स्वरूप अनुभव करना चाहिये ।

१३६२—सृष्टि में जितने भी रंग हैं, सूर्य के हैं अपने नहीं, इसी कारण सूर्य को मंत्रों में विश्व रूप कहा है क्योंकि विश्व नाम सृष्टि का है । और उसमें अपना रूप कोई नहीं, वरन् सूर्य का रूप ही उधार लिया होता है ।

१३६३—समुद्र की तरंगों की और देखो, एक भी तरंग समुद्र से पृथक् नहीं है । फिर भी तरंग पृथक् क्यों प्रतीत होती है ? नाम और रूप के कारण-तरंग की आकृति और उसे हमने जो तरंग नाम दिया है । वह इन दोनों ने उसे समुद्र से पृथक् कर दिया है । नाम रूप के नष्ट हो जाने पर वह समुद्र का समुद्र ही रह जाता है । अतएव यह समुदय जगत् एक स्वरूप है ।

१३६४—वास्तव में 'मैं' और 'तुम' नामक कुछ भी नहीं है । सब एक ही है । चाहे कह लो सभी 'मैं हूँ' या सभी 'तुम हो' यह द्वैतज्ञात बिल्कुल मिथ्या है ।

१३६५—तुम काल के आधीन नहीं । काल तुम्हारे आधीन है । सारे स्वर्ग तुम्हारे भीतर हैं तुम स्वयं किसी स्वर्ग में अवस्थित नहीं हो और मनुष्य ने आज तक जितने देवताओं की उपासना की है वे सब उसके भीतर ही अवस्थित हैं वह स्वयं किसी देवता में अवस्थित नहीं है । वह देव, असुर, मानव, पशु, पक्षी, प्रस्तर आदि सभी का सृष्टि कर्त्ता । और उस समय मनुष्य का असल स्वरूप उसके निकट इस जगत् से भी श्रेष्ठतर और सर्वव्यापी आकाश से भी अधिक सर्वव्यापी रूप में प्रकाशित होता है । तभी मनुष्य निर्भय हो जाता है, तभी वह मुक्त हो जाता है, तब सारी आन्ति दूर हो जाती है ।

१३६६—अम के वश हो हम सोचते हैं कि हम अपवित्र हैं, हम अशांत हैं, हम जगत् से पृथक हैं पर असल में प्रकृत मनुष्य यही एक अखंड सत्ता स्वरूप है ।

१३६७—जो कुछ है वह सब आत्मा ही है, अर्थात् सब कुछ मेरा ही स्वरूप है मुझसे भिन्न और कोई वस्तु नहीं है । ज्ञान निष्ठा के अनुसार इस तृतीय

साधन के अवान्तर भेद लिखे जाते हैं । इसके केवल तीन प्रकार ही बतलाये जाते हैं । प्रथम यह दृष्टि रखी गई है कि समस्त भूत प्राणी आत्मा के अन्तर्गत हैं । दूसरे में यह दृष्टि रखी गई है कि भूत और आत्मा ओतप्रोत हैं । तीसरे में सबके सुख-दुख को आत्म सदृश अनुभव करने की बात है ।

(क)—साधक को चाहिए कि वह ऐसा अभ्यास करे कि जैसे आकाश से उत्पन्न वायु, जल, तेज और पृथ्वी उसके एक अंश में स्थित है, वैसे ही मुझ अनन्त नित्य विज्ञानानन्द धन आत्मा को एक अंश में यह सारा जगत् स्थित है । इस प्रकार पुनः २ अभ्यास करने से साधक सच्चिदानन्द धन परमात्मा को अभेद रूप से प्राप्त कर लेता है ।

(ख)—ज कुछ जड़-चेतन चराचर प्रतीत होता है वह सब ब्रह्मा है । ब्रह्म ही आत्मा है, इसलिए सब मेरा ही स्वरूप है । जैसे सर्वव्यापी आकाश सम्पूर्ण बादलों में सर्वत्र समान भाव से व्यापक रहता है । वैसे ही इन समस्त चराचर भूत प्राणियों में आत्मा समान भाव से व्यापक रहता है । जिस प्रकार आकाश से ही भुण्ड के भुण्ड बादल पैदा होते हैं और उसी में स्थित रहते हैं, इसलिए सारे बादलों का कारण और आधार

आकाश ही है, वैसे समस्त भूत प्राणियों का कारण और आधार आत्मा है । इस प्रकार समझकर चराचर भूत प्राणियों को अपना स्वरूप ही समझना चाहिये और सब को अपनी आत्मा में तथा आत्मा को सारे भूत प्राणियों में समभाव से देखना चाहिए । इस प्रकार के अभ्यास से मनुष्य विज्ञानानन्द धन परमात्मा को प्राप्त हो जाता है ।

१३६८—अद्वैत वादी कहते हैं, जगत का ईश्वर हमारा अपना ही अन्तरात्मा स्वरूप है ।

१३६९—बारम्बार प्राणवायु को शरीर से बाहर निकालने का तथा यथा शक्ति बाहर रोक रखने का अभ्यास करने से मन में निर्मलता आती है । इससे शरीर की नाड़ियों का भी मल नष्ट होता है ।

१३७०—अज्ञान और अज्ञान के कार्य जाग्रत और स्वप्न इसमें भेदा कोई सम्बन्ध नहीं है । सृष्टि कारण है, जाग्रत, स्वप्न कार्य हैं ।

१३७१—देहात्म बुद्धि दूर कर दो, ऐसा करते ही सारे दुःख क्लेश दूर हो जायेंगे । मनोबल से रोग दूर करने का यही रहस्य है ।

१३७२—हमारे जीवन का सबसे सुखकर क्षण वही होगा जब हम स्वयं को बिल्कुल भूल जायेंगे । जीवन

का समस्त रहस्य है निर्भीक होना । तुम्हारा क्या होगा । इसका भय छोड़ दो । किसी के ऊपर निर्भर मत रहो । जब तुम दूसरे की सहायता की आशा छोड़ दोगे तभी तुम मुक्त हो जाओगे ।

१३७३—‘क्रोध’ नाम की कोई वस्तु नहीं है । क्योंकि सभी वस्तुओं में समत्व बुद्धि के अभाव से ही क्रोध आता है ।

१३७४—भेद वस्तुओं के स्वरूप में नहीं रहता, वह तो हमारे मस्तिष्क में रहता है । बाहर में एक अखंड वस्तु ही है, भेद केवल भीतर में हमारे मन में रहता है । अतएव बहुत्व का ज्ञान मन की ही सृष्टि है ।

१३७५—शत्रु मित्र तथा सब द्वन्द्वों के प्रति सम-दृष्टि होना सीखो । जब ऐसा हो सकेगा तथा तुम्हें कोई वासना नहीं रहेगी, तभी यह समझना चाहिये कि तुम्हें चरम अयस्था का लाभ हुआ है ।

१३७६—तुम्हें यदि कोई दे तो उसके प्रति कृतज्ञ होओ, क्योंकि गाली या अभिशाप क्या है, यह देखने के लिये उसने मानो तुम्हारे सम्मुख एक दर्पण रखा और वह तुम्हारे लिये आत्म संयम का अभ्यास

करने का एक अवसर दे रहा है । अतएव उसे आशी-
र्वाद दो और सुखी बनो । अभ्यास करने का अवसर
मिले बिना व्यक्ति का विकास नहीं हो सकता और
दर्पण सामने रखे बिना हम अपना मुख नहीं देख
सकते ।

१३७७—अपवित्र चिन्ता अपवित्र क्रिया के समान
ही दोषकर है ।

१३७८—तुम यह सर्वदा ध्यान में रखो कि तुम
मुक्त हो ।

१३७९—तुम लोग अपने शत्रुओं से भी प्रेम करो
जो तुमसे घृणा करते हैं उनसे भी प्रेम करो ।

१३८०—कभी भी यह मत सोचो कि तुम जगत्
को अच्छा और सुखी बना सकते हो ।

१३८१—प्रत्येक पिंड में सारा ब्रह्माण्ड भरा है ।

१३८२—विश्व अयुक्त सिद्धावयव (अखंड) पदार्थ
है । उसके अवयवों का स्वतन्त्र जीवन नहीं है । सम्पूर्ण
विश्व अपने छोटे से छोटे टुकड़े में वर्तमान है ।

१३८३—‘मैं’ न रहने पर बाहर में ‘तुम’ (दृश्य)
नहीं रह सकता । इससे कुछ दार्शनिकों ने यह
सिद्धान्त निकाला कि ‘मैं’ हो बाह्य जगत् रहता

है । 'मैं' (द्रष्टा) को छोड़ कर इसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । तुम (दृश्य) केवल मैं (द्रष्टा) में ही रहता है ।

१३८४—समष्टि सम्पूर्ण एक है अतएव एक व्यक्ति को सुखी करने का अर्थ है एक दूसरे व्यक्ति को असुखी करना । बाहर के सुख केवल जड़ सुख हैं, और उसका परिणाम निर्धारित है । अतएव सुख का एक कण भी दूसरे के पास से छिने बिना हमें प्राप्त नहीं हो सकता । केवल वही सुख जो जड़ जगत् से अतीत है बिना किसी के हानि पहुंचाये प्राप्त किया जा सकता है । जड़ सुख केवल दुःख के रूपान्तर मात्र हैं ।

१३८५—अच्छा और बुरा ये दोनों अच्छेद्य भाव से जड़ित हैं—एक को लेने पर दूसरे को लेना ही होगा ।

१३८६—जो मुक्त हैं, वे किसी काल में भी बंध नहीं होते । मुक्त किस प्रकार बंध हुए यह प्रश्न ही युक्ति युक्त नहीं है । जहां कोई बन्धन नहीं है वहां कार्य कारण भाव भी नहीं है ।

१३८७—यदि तुम यथार्थ में निःस्पृह हो तो किसी

बात को परवाह मत करो, विश्व में कोई भी तुम्हारा यथावरोध नहीं कर पायेगा ।

१३८८—“प्रस्तुत रहो” स्वर्ग का राज्य अत्यन्त समीप है । एक क्षण भी विलम्ब मत होने दो । कल पर कुछ मत छोड़ो, और उस महान व परम अवस्था के लिये सदा प्रस्तुत रहो । वह तुम्हारे निकट किसी भी क्षण उपस्थित हो सकती है ।

१३८९—मनुष्य की आँखें ही देखो, उसका कितनी आसानी से नाश हो सकता है । फिर भी इस विशाल सूर्य मंडल का अस्तित्व तुम्हें कैसे प्रतीत होता है ? इसलिए कि तुम्हारी आँखें उसे देख रही हैं । दुनियां इसलिए विद्यमान है कि तुम्हारी आँखें प्रमाण देती हैं कि वह विद्यमान है । जरा इस रहस्य पर विचार करो । ये बेचारी छोटी आँखें—तेज उजाला या एक आलपीन इन्हें नष्ट कर दे सकती है । लेकिन नाश के बृहत्तम यंत्र, प्रलय काल के बलिष्ठतम साधन, आश्चर्य पूर्ण घटनायें, कोटि २ तारे, सूर्य, चन्द्र, भूमंडल इन सबका अस्तित्व इन दो छोटी आँखों पर अवलम्बित है और इन्हें इन दो आँखों की सिफारिश की आवश्यकता होती है । आँखें कहती हैं कि हे प्रकृति, तुम

विद्यमान हो और हम विश्वास करते हैं कि प्रकृति विद्यमान है । हमारे प्रत्येक इन्द्रियों के बारे में ठीक यही सच है ।

१३६०—इस जगत् में सब वस्तुयें अद्भुत भाव से परस्परावलम्बी हैं, यहाँ छोटे से छोटा परमाणु भी सम्पूर्ण विश्व के अस्तित्व के लिए आवश्यक है फिर हम किसे ऊंचा कह सकते हैं और किसे नीचा ? प्रत्येक वस्तु में वह अनन्त सत्ता रूपी समुद्र ओत-प्रोत है । वहाँ अनन्त उनका सत्य स्वरूप है और जो कुछ धरातल पर विद्यमान है वह भी अनन्त ही है । जो शांत है वही अनन्त है और जो अनन्त है वही शांत है । यही है हमारी सत्ता का स्वरूप ।

१३६१—जीवन तो एक खेल का मैदान है, खेल चाहे जितना ही जंगली क्यों न हो, हम पर चाहे जितने थपेड़े, चाहे जितने धक्के लगें, किन्तु नित्य वर्तमान आत्मा को कभी कोई चोट नहीं पहुँच सकती । हम वही अनन्त आत्मा हैं ।

१३६२—मुझे कभी न संशय था न डर । मृत्यु मुझे कभी न छू पाई ' मेरे माता-पिता कहां ? मैं तो अजन्मा हूँ । मैं ही सब कुछ हूँ । फिर मेरा शत्रु कौन ?

मैं सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ । सोऽहं सोऽहं । काम क्रोध ईर्ष्या, कुविचार आदि ने मुझे कभी स्पर्श नहीं किया क्योंकि मैं तो सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ सोऽहम् सोऽहम् सब दुःखों पर यही एक अमोघ उपाय है । यह वह अमृत है जो मृत्यु को जीत लेता है सोऽहम् सोऽहम् । मुझे न भय है न संशय, न मृत्यु, मैं क्षिति, वर्ण लिङ्ग सबसे अतीत हूँ । कौन सा सम्प्रदाय बाँध सकता है ? कौन सा पंथ मुझे अपना सकता है । सब पंथों में मैं ही अनस्यूत हूँ । शरीर चाहे जितना ही विरोध करे, मन लड़ने के लिए जिसता ही उठ खड़ा हो, इस घन अन्धकार में, इस जलती हुई यंत्रणा में, इस घोरतम नैराश्य में एक बार दो, बार तीन, बार सर्वदा यही गावो । प्रकाश मृदुता से आता है, धीरे २ आता है, पर आता है अवश्य ।

१३६३—हम जिसे जगत कहते हैं वह तो वृत्तियों की समष्टि मात्र है ।

१३६४—यह सम्पूर्ण बहिर्जगत अन्तर जगत या सूक्ष्म जगत का स्थूल विकास मात्र है । सभी स्थलों में सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य समझना होगा । इस नियम से बहिर्जगत कार्य है और अन्तर्जगत

कारण ।

१३६५—जब तक हम यह अनुभव नहीं कर लेते कि समस्त ज्ञान हमारे अन्दर हैं । जब तक यह दृढ़ धारण नहीं हो जाती कि कोई भी हमें सत्य की प्राप्ति करने में सहायता नहीं पहुँचा सकता । हमें स्वयं ही अपने आप की सहायता करनी होगी तब तक सारा सत्यान्वेषण ही वृथा है ।

१३६६—दुनियाँ तभी पवित्र और अच्छी हो सकती है, जब हम स्वयं पवित्र और अच्छे हों । वह है कार्य और हम हैं उसके कारण ।

१३६७—हमें यह ध्यान रखना चाहिए जब तक हम अपने आपको दुर्बल न बनायें तब तक हम पर कुछ नहीं हो सकता ।

१३६८—दृश्य द्रष्टा को प्रकाश नहीं कर सकती उलटा द्रष्टा ही दृश्य को प्रकाशता है । सूर्य दीप-कादिकों में यह प्रसिद्ध दृष्टान्त है ।

१३६९—जो बुद्धि को प्रकाशता है सोई सब पदार्थों को प्रकाशता है । बुद्धि आदि किसी को भी नहीं प्रकाश कर सकते ।

१४००—घट और भूषणादि सब कल्पित पदार्थ,

मृत्तिका सुवर्णादिक अपने अधिष्ठान विषे है ही नहीं । केवल सुवर्णादिक अधिष्ठान ही है । परन्तु यह बात आलौकिक बुद्धि के नेत्रों से देखी जाती है ।

१४०१—सब शरीर सहित स्वप्न जगत् मिथ्या है और स्वप्नद्रष्टा ही सत्य है तैसे ही सब शरीर सहित जाग्रत जगत् मिथ्या है यह जानना ही संसार रूपी अन्धकूप से निकलना है ।

१४०२—जीविका की चिन्ता, प्रणयिनी सुन्दरियों का श्रवण मनन एवं लोगों का दुःखमय स्मरण यदि त् अपने निजस्वरूप का ही प्रेमो होवे तो सब मिट जावें ।

१४०३—महल, अटारी, बाग बगीचे जो कुछ तुम देखते हो वस्तुतः प्रकाश ही को तुम देख रहे हो, प्रकाश ही की किरणों में सारा संसार दृष्टि-गोचर होता है । यही प्रकाश हरा, लाल, पीला बना हुआ है और तुरीया कि अपने स्वरूप में बिल्कुल बेरंग है ।

१४०४—जिस मनुष्य का चित्त शुद्ध हो जाता है उसे यह संसार निर्विकार, शांत अनुभव मात्र आकाश के समान निर्मल ब्रह्मरूप प्रतीत होता है ।

१४०५—आकाश के नीले रंग के समान जो यह भ्रमदायक संसार प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है । इसके अत्यन्त अभाव की प्रतीति यदि चित्त में दृढ़ प्रकार से जम जावे तब समझना चाहिए कि अब ब्रह्म के रूप का ज्ञान हुआ और किसी प्रकार से नहीं हो सकता । क्योंकि दृश्य के अत्यन्त अभाव को छोड़कर कल्याण का और कोई उपाय नहीं ।

१४०६—जब चित्त में द्वैत का भान होता है तब संसार में भी द्वैत का भेद दिखाई देता है । परन्तु जब चित्त में से द्वैत बुद्धि का क्षय हो जाता है तब संसार में भी भेदभाव कहीं दिखाई नहीं पड़ता ।

१४०७—यह दृश्य संसार इन्द्रजाल की रचना के समान मिथ्या है, इस कारण इसमें मन लगाना अथवा इससे भयभीत होना दोनों व्यर्थ हैं । ऐसा विचार मन में करने से अहंकार का क्षय होता है ।

१४०८—अन्य शास्त्रों के ढेर पढ़ने से क्या लाभ ? केवल इतना ही अनुष्ठान करो कि जिस पदार्थ में रुचि उत्पन्न हो उसी को विष और आग के समान त्याज्य समझो ।

१४०९—मैं दोनों भुजाओं को ऊपर उठाकर ऊंचे

स्वर से घोषणा करता हूँ कि जैसे जल से कमल भिन्न है वैसे ही आत्मा अलग है देह अलग है । आत्मा देह से भिन्न है ।

१४१०—किसी की सहायता करने के लिये जाकर और अधिक भ्रम की सृष्टि मत करो । यह मानो एक वट वृक्ष के समान है जो बढ़ता ही जाता है । यदि तुम द्वैतवादी हो तो ईश्वर की सहायता के लिये जाना ही तुम्हारी मूर्खता है । यदि तुम अद्वैतवादी हो तो तुम स्वयं ब्रह्म स्वरूप हो फिर तुम्हारा कर्त्तव्य क्या रहा ?

१४११—दुनियां में जितने पदार्थ हैं वे पांच विषय रूप हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध । और पांच ही ज्ञानेन्द्रियां हैं जो इन पांच प्रकार के विषयों को ग्रहण करती हैं ।

१४१२—दुनियां में जितने शब्द हैं, उन सब को जड़ कान है । अगर कान न हो तो एक भी शब्द सुनाई नहीं देता । इसी तरह जितने भी रूप हैं उनकी जड़ आंख है, यदि आंख न हो तो कोई भी रूप नहीं । जितने भी रस हैं वे जिह्वा के बजह से हैं । जितने भी कोमल कठिन पदार्थ हैं वे त्वचा इन्द्रियों को बजह से है । इसी तरह घ्राण की बजह से सम्पूर्ण

गंध है तो कहने का भाव यह है कि संसार भर की सम्पूर्ण वस्तुयें इन पांचों इन्द्रियों की वजह से हैं। ये इन्द्रियां भी अपने आप कुछ नहीं कर सकतीं बल्कि इनके पीछे ख्याल काम कर रहा है। यदि ख्याल आंख के पीछे है तो कान सुनेंगे नहीं और जिह्वा रस का ग्रहण करते हुए भी बता नहीं सकती। इसी तरह ख्याल की वजह से इन्द्रियां हैं। यदि ख्याल नहीं तो ये होती हुई भी कुछ नहीं।

१४१३—निश्चय कर कि यह सम्पूर्ण संसार का व्यवहार एक खेल है। सम्पूर्ण युद्ध का खेल मेरी साक्षी और शहादत में ही रहा है। मैं ही सबका साक्षी और प्रेरक हूँ।

१४१४—हमें तो साहस से कहना चाहिये कि चाहे लाखों ही दुःखों और सुखों के दरिया उमड़ आयें, परन्तु मैं सदा अचल रहूंगा। क्योंकि मैं इन दोनों का साक्षी हूँ।

१४१५—बंध और मोक्ष की आशा सुख-दुःख की भावना तथा हित अहित की आशंका छोड़कर समुद्र के समान गम्भीर बनो।

१४१६—सब प्रकार की घृणा अपने से भिन्न

किसी को दूषित देखने वाले को हो होती है, अर्थात् जो अपनी आत्मा से दूसरे को भिन्न जानता है। अन्तःकरण में राग द्वेष की भावनायें पैदा होती हैं। इसलिये वेदान्व कहता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' कारण कार्योत्तम जगत को ब्रह्मरूप समझो। जब आपके हृदय में ब्रह्मस्वरूप की भावना परिपक्व हो जायगी तब राग-द्वेष की भावना भी सदा के लिए निवृत्त हो जायगी।

१४१७-जैसे स्वप्न में यह 'जीव' निद्रा दोष करके ईश्वर, अनेक जीवों तथा पदार्थों को रचना कर लेता है परन्तु यह सब कल्पित है। उनकी वास्तविक सत्ता कुछ नहीं होती। और प्रबोध होने पर सब विलीन हो जाते हैं। इसी प्रकार अनादि माया के सम्पर्क से यह आत्मा स्वयमेव अनेक इन्द्रादि देवता, मनुष्यादि योनियों और घट पदादि जड़ पदार्थों की रचना कर लेता है। इस प्रकार रचित हुए भी यह पदार्थ काल्पनिक सत्ता उल्लंघन नहीं करते और प्रबोध हो जाने पर सबके सब विलीन हो जाते हैं।

१४१८-जैसे स्वप्न द्रष्टा निद्रा के कारण स्वयमेव अपने में भिन्न पदार्थों की कल्पना कर लेता है

और उनको अपने से भिन्न देखता है, परन्तु वस्तुतः उस द्रष्टा से भिन्न कोई भी पदार्थ सत्य नहीं होत । इसी प्रकार माया के कारण यह आत्मदेव भी अपने आप में अनेक भिन्न-भिन्न पदार्थों की कल्पना कर लेता है और उनको अपने से भिन्न देखता है परन्तु वस्तुतः उस द्रष्टा से भिन्न कोई भी पदार्थ सत्य नहीं होता । सार यह है कि दोनों अवस्थाओं और तद्गत पदार्थों के मिथ्या होते हुए भी उनका साक्षी एक मात्र सत्य वस्तु आत्मा उनका अधिष्ठान है । वही सब कल्पनाओं का आलम्बन है । इस प्रकार जो द्रष्टा है वही स्रष्टा है ।

१४१६-द्रष्टा आत्मा से भिन्न कोई द्रष्टव्य पदार्थ सत्य रूप से विद्यमान नहीं है । जैसे स्वप्न में यावद् दृश्य प्रपञ्च स्वप्न द्रष्टा से अपने में कल्पित होने के कारण अणुमात्र भी उससे भिन्न नहीं होता और प्रबोध होने पर ऐसे विलीन हो जाता है जैसे कभी कुछ हुआ हो नहीं । वैसे ही यह सब जाग्रत दृश्य प्रपञ्च भी आत्मा से अपने अज्ञान के कारण अपने में कल्पित हुआ उससे अणुमात्र भी भिन्न नहीं और आत्मज्ञान रूप प्रबोध के होते ही ऐसे विलीन हो

जाता है जैसे कभी कुछ हुआ ही नहीं ।

१४२०—जैसे स्वप्न दृश्य, स्वप्न द्रष्टा के स्वरूप से इतर नहीं है । इसी प्रकार द्रष्टा से इतर संसार दृश्य कुछ नहीं है ।

१४२१—अन्य द्वैत का सदा से अभाव होने से वह आत्मा सदा स्वरूप से असङ्ग है ।

१४२२—जिस को अज्ञान कर्म समझते हैं वह वस्तुतः अकर्म ब्रह्म ही है । सब अज्ञान अक्रिय ब्रह्म स्वरूप है भी, परन्तु अविद्या वश से अपने आप को क्रियावान जीव जगत रूप से मानते हैं ।

१४२३—कल्प प्रलय के पवन चलें, समुद्र (बढ़कर) परस्पर मिल कर एक हो जावें, द्वादश सूर्य मिलकर तपने लगें तब भी मनोनाश वाले पुरुष को कुछ हानि नहीं होती ।

१४२४—सर्ग (सृष्टि) प्रथम से ही उत्पन्न हुआ नहीं दृश्य का सर्वदा ही अभाव है ।

१४२५—रम्य अथवा अरम्य को देखकर पाषाणवत सम स्थित रहना चाहिए । इतने ही अपने पुरुषार्थ से संसार का विजय होता है । यहाँ रम्यता

और अरम्यता दोनों भाव अविद्यक है । इन दोनों को मिथ्या निश्चय कर अर्थात् इनका बाध कर के यानि अत्यन्त असत समझ कर ही पाषाणवत समता आ सकती है और इस पुरुषार्थ से ही संसार की विजय होती है । यानि सम भाव पूर्वक ज्ञान से संसार का अत्यन्ताभाव होता है ।

१४२६—गंगा जी प्रवाह का, हवा, पशु, पक्षी आदि का जो भी शब्द सुनाई दे उसमें ऐसी भावना करे कि शब्द ही भगवान है । किसी प्रकार का भी शब्द सुनाई क्यों न दे, 'नाद ब्रह्म' शब्द को ही ब्रह्म समझे, जो कुछ सुनाई दे वह भगवान है । चाहे कोई गाली दे चाहे आशीर्वाद दे, दोनों को ही भगवान समझे । यदि गाली सुन कर हमें दुःख होता है तो फिर हमने शब्द को भगवान कहाँ समझा । भगवान समझने पर तो आनन्द ही आनन्द होगा । भगवान के दर्शनों से जो आनन्द हो, गाली सुनने से भी उसी आनन्द का अनुभव करें । इस बात से भी कल्याण हो जाता है ।

१४२७—तमाम दुनियाँ है खेल मेरा,
मैं खेल सब को खिला रहा हूँ ।

किसी को गम में रुला रहा हूँ,
 किसी को बेछुद बना रहा हूँ ।
 कभी मैं दिन को निकालूँ सूरज,
 कभी मैं शब को दिखाऊँ तारे ।
 ये जोर मेरा है दोनों पाँवों को,
 मिसले फिरकी फिरा रहा हूँ ।
 अक्स है सदमा भले बुरे का,
 हो कौन तुम और कहां से आये ।
 खुशी है मेरी मैं खेल अपना,
 बना बना के मिटा रहा हूँ ।
 फिरो हो रूपे जमीं पे यारों,
 तलाश मेरी में मारे मारे ।
 अमल करो तुम दिलों में देखो,
 मैं नहने अकरब सुना रहा हूँ ।
 किसी के गर्दन में तोफे लानत,
 किसी के सिर पर है ताजे रहमत ।
 किसी को ऊपर बुला रहा हूँ,
 किसी को नीचे गिरा रहा हूँ ॥

